ओ३म्

189

तत्वज्ञान

महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

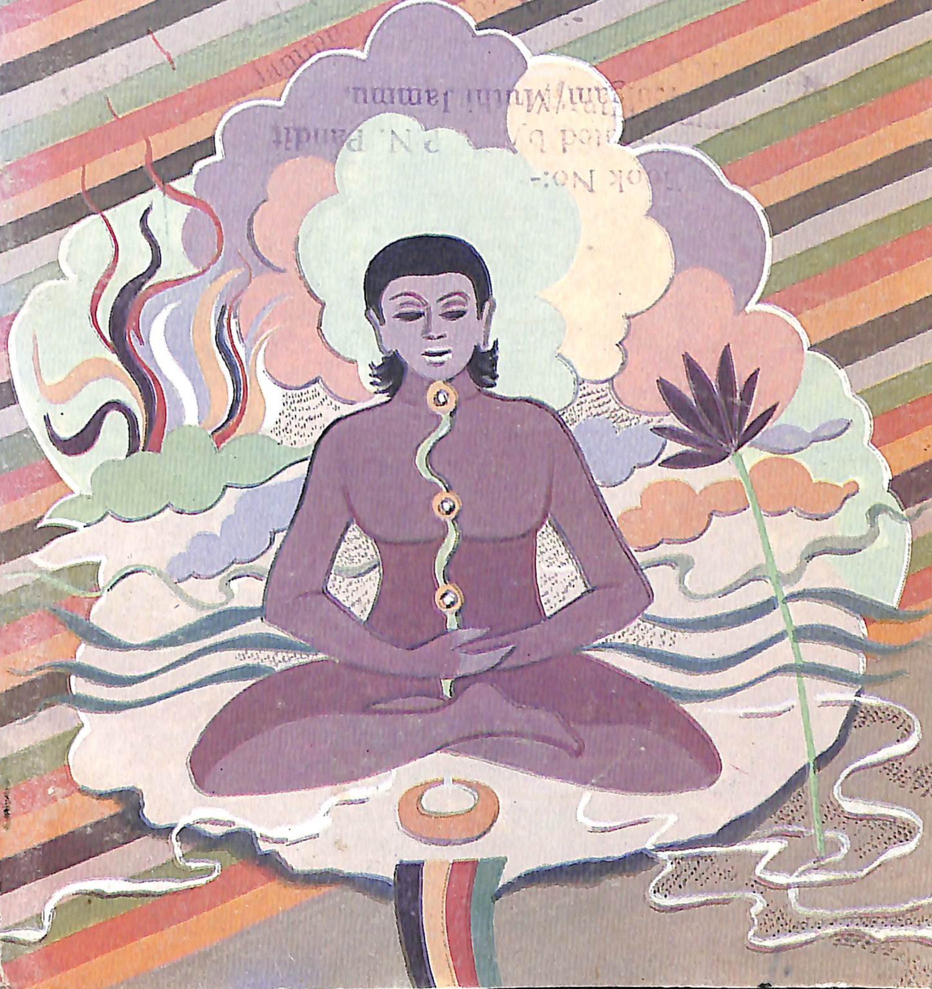

Book No:-
P.N. Pandit
Jammu

ओ३म्

तत्त्वज्ञान

Book No:-
P.N. Pandit
Jammu

189

प्रवचनकर्ता
महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

सर्वाधिकार सुरक्षित
© गोविन्दराम हासानन्द

पुस्तक से कोई उद्धरण लेने या अनुवाद करने के लिए प्रकाशक की अनुमति अनिवार्य है ।

१८१

प्रकाशक : **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
4408, नई सड़क, दिल्ली-110006
दूरभाष-23977216, 31023714
E-mail:ajayarya@vsnl.com
Website:www.vedicbooks.com

संस्करण : 2005

मूल्य : 24.00

मुद्रक : स्पीडोग्राफिक्स, दिल्ली-110051

TATTVA JNAN by Mahatma Anand Swami Saraswati

विषय-सूची

पहला अध्याय

प्रकाशक की ओर से ९

प्रस्तावना १४

यह श्रम क्यों १४

क्या यही है दुनिया ? १५

सब असफल हो गये १६

परिणाम—हाहाकार १६

डरो मत, उपाय है १७

इस ग्रन्थ में क्या है ? १८

दुनिया की सबसे बड़ी आवश्यकता २०

पुस्तक लिखने में कठिनाई २१

भारत के गीत स्वर्ग में २२

दूसरा अध्याय

हृदय की पुकार २४

वासनाक्षय और मन २४

मन से मन का दमन २५

न्याय-दर्शन का आदेश २८

क्या सारे सम्बन्ध झूठे हैं ? २९

केनोपनिषद् का तथ्य ३०

बिजली और मन ३१

प्राण की शक्ति ३२

नारद और सनत्कुमार का सम्वाद ३४

निःस्वार्थ सेवक ४०

प्राण तथा मन का निरोध ४२

तीसरा अध्याय

शरीर के तीन उपस्तम्भ ४३

(१) आहार ४३

स्वाद के पीछे ४४

भोजन में क्या हो ? ४५

रोगों का कारण ४६

गोघृत रसायन है ४८

वेद में गो-महिमा ४८

मन को प्रसन्न रखने से स्वास्थ्य ४९

भोजन-समय स्वर ५०

आहार में छः रस ५१

(२) निद्रा ५२

निद्रा से जीवन-बैटरी पुनः चार्ज होती है ५२

प्रभु की अद्भुत देन निद्रा ५४

सच्ची निद्रा कैसे ? ५५

(३) ब्रह्मचर्य ५६

ब्रह्मचर्य : एक यज्ञ ५७
लोक-परलोक सुधारनेवाला यज्ञ ५८
गृहस्थी भी ब्रह्मचारी ५९
दो कफन तैयार ६०

चौथा अध्याय

प्राणायाम तथा ध्यान ६३
प्राणायाम ही तप है ६३
प्राणायाम हानिप्रद कैसे ? ६४
प्राणायाम का तत्त्व ६४
प्राणायाम की विधि ६५
महर्षि दयानन्द का अनुभव ६७
ओ३म् तथा गायत्री जप ६८
ध्यान किस प्रकार ? ६८
मन निर्विषय कैसे ? ६८
मन के खेल से सावधान ! ६९
ध्यान की विधि प्राणायाम सहित ७०
बिना ज्ञान, ध्यान नहीं ७१
सृष्टि-रचना से लय ७२
अघमर्षण मन्त्र से ध्यान अवस्था ७६
ओ३म् जप से ध्यान-अवस्था ७७
ओ३म् का नाद ध्यान बाँधता है ७९
ओ३म् जप से एकाग्रता और विघ्नों का नाश ८०
महर्षि दयानन्द का आदेश ८३
केवल ध्यान ८४

पाँचवाँ अध्याय

जीवन के दो मार्गों का तत्त्व ८५
जीवन के दो मार्ग ८५
आगे पग उठाने से पूर्व ८५
जो लोक में, वही शरीर में ८६
ब्रह्माण्ड और पिण्ड की तुलना का प्रयोजन ८७
प्रवृत्ति और निवृत्ति ८७
गुलबर्गा जेल में श्रेय-प्रेय मार्ग ८८
स्वार्थमय संसार में तीन मार्ग ८९
कठोपनिषद् के दो मार्ग ९०
भगवान् मनु का आदेश ९२
परमात्मा की आवाज़ सुनो ९२
विषयों का चिन्तन ही न करो ९३
कसौटी आपके हाथ में ९४
मन के दोष और उनका प्रशमन ९४
सत्त्वगुण-प्रधान मन के गुण ९६
रजोगुण-प्रधान मन के गुण ९६
तमोगुण-प्रधान मन के गुण ९६

छठा अध्याय

सृष्टि-तत्त्व ९८
एक ग्रामीण की बात ९८
विकास या ह्रास ९९
दो विचारधाराएँ ९९
मित्र का पत्र १००

धन ही तत्त्व है क्या ? १०१
संसार के बड़े-बड़े धनिकों का अन्त १०४
संसार-समुद्र को कैसे तरूँ ? १०५
विश्व एक पहेली १०७
वेद में सृष्टि-रचना १०८
वेद पहेली खोलता है १०८
सारे शास्त्रों का एक तत्त्व १११
चौबीस अनात्म तत्व ११४
यह सारा प्रपंच क्यों ? ११४
पश्चिमी विद्वान् भी आत्मा को मानते हैं ११६
हमारे पूर्वजों ने यह तथ्य कैसे जाना ? ११७
यह संसार क्या है ? ११८
'खाओ, पियो, मौज उड़ाओ' के अतिरिक्त ११९
संसारी जीवों की वेदना १२०

सातवाँ अध्याय

श्रीराम की व्यथा की कथा १२१
मृगतृष्णा जल की तरह १२२
धन-सम्पत्ति की वृद्धि से दुःख १४२
आयु भागती जा रही है १२४
और यह अहंकार १२५
तृष्णा ! हा तृष्णा ! १२७
यह मानव-शरीर १२८
लोगों की दयनीय अवस्था १२९
क्या है कोई उपाय ? १३२

आठवाँ अध्याय

तत्त्वज्ञान का अधिकारी कौन ? १३५
तत्त्वज्ञान का मनुष्य-मात्र को अधिकार १३५
तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के चार साधन १३६
(१) विवेक १३७
अविद्या के चार रूप १३८
राजनीति के क्षेत्र में अविद्या १४०
आत्म और अनात्म १४१
महर्षि दयानन्द की व्याख्या १४१
(२) वैराग्य १४३
मन वैरागी हो १४४
त्याग और तप आधारशिला है १४५
प्राण भी प्रभु के अर्पण १४६
योगी और अयोगी में भेद १४७
स्वामी सर्वदानन्द और महात्मा हंसराज १४८
संन्यास का अर्थ सर्वत्याग १४९
वैराग्य क्या है ? १५०
अनुभव की बात १५१

(३) षट् सम्पत्ति	१५२	राजा रन्तिदेव की भक्ति	१८०
शम क्या है ?	१५३	पहले प्रभु-कृपा प्राप्त करो	१८१
दम क्या है ?	१५३	मेरी चाह	१८३
उपरति क्या है ?	१५४	प्रभु-कृपा आवश्यक है	१८५
तितिक्षा क्या है ?	१५४	लाज तिहारे हाथ	१८५
श्रद्धा क्या है ?	१५६	भक्त का चिह्न	१८८
समाधान क्या है ?	१५८	**दसवाँ अध्याय**	
(४) मुमुक्षुत्व	१६०	**तत्त्वज्ञान क्या और कैसे ?**	१९०
चातक जैसी अवस्था	१६०	विवेकख्याति	१९०
साधक की तैयारी	१६२	यम-नियम की चट्टान पर	१९१
नवाँ अध्याय		तत्त्व क्या है ?	१९२
बाल्यकाल की कथा	१६५	तीन बन्ध और उनसे छूटने का उपाय	१९४
अनन्य भक्ति क्या है ?	१६६	पाँच क्लेशों का घेरा	१९५
प्रेम-तत्त्व का उदय	१६८	बुद्धि के आठ रूप	१९५
परम प्रेम भक्ति	१६९	तीन शरीर	१९६
सब जग भुल्लनहार	१७०	सूक्ष्म शरीर	१९७
मेरे लिए कब ?	१७२	परमात्मा की आवाज सुनो ?	१९९
क्या मेरा रुदन सहन कर लोगे	१७२	कारण शरीर	२००
भक्त गया वाटिका में	१७३	जीवात्मा क्या है ?	२००
भक्त फिर कहता है	१७४	ब्रह्म तत्त्व	२०१
भक्त का अल्टीमेटम	१७४	आनन्द की सम्पत्ति ब्रह्मतत्त्व के पास	२०२
अन्य दो प्रकार की भक्ति	१७६	पञ्चभूतों की माया	२०३
प्रेम-भक्ति का नशा	१७७	तीन प्रकार के दुःख	२०४
ज्ञानी भक्त	१७८		
प्रभु-दर्शन के मन्दिर	१७९		

एक भूख का दुःख ही अभी तक नहीं मिटा	२०४
भारतवासी दुःखी के दुःखी	२०५
क्या दुनिया बुद्धिपूर्वक नहीं बनी	२०६
फिर दुःख क्यों ?	२०७
सारे शास्त्रों का सार	२०७
तत्त्वज्ञान	२०७
सांख्य का मत	२०८
वेदान्त का मत	२०९
जैन मत की बात	२१०
परिणाम एक ही	२१०
वेद भगवान् का आदेश	२११
तत्त्वज्ञान क्या है ?	२११
जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे	२१२
संध्या में प्राणायाम मन्त्र	२१३
आत्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व का मिलाप	२१५
मैं ऐनक नहीं हूं	२१५
देह आत्मा नहीं है	२१६

ग्यारहवाँ अध्याय

वेद में ब्रह्म तत्त्व	२१८
वह तत्त्व कैसा है ?	२२०
वेद के शब्दों में	२२२
तत्त्वज्ञानी निष्पाप हो जाता है	२२२
वह इन्द्र कौन है ?	२२३
वेद का मुख्य तात्पर्य	२२३
एतद् वै तत्	२२४
यही है वह तत्त्व	२२५
उपनिषदों का रहस्य	२२५
रह गया आनन्द ही आनन्द	२३०

□

ओ३म्

प्रकाशक की ओर से

यह 'तत्त्वज्ञान' पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है, क्योंकि इसमें दुःखी संसार को सुखी करने का सरल साधन बतलाया गया है। यह पुस्तक दुनिया की हा-हू से सर्वथा परे हिमालय के उत्तराखण्ड प्रदेश में तीन वर्ष के मनन तथा गम्भीर विचार के पश्चात् एकाग्रता प्राप्त करके लिखी गई है। इसके लेखक श्री महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती जी हैं, जिन्होंने अपनी दो कम सत्तर (६८) वर्ष की आयु में सब प्रकार के क्षेत्र देखे हैं। महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती जी का पहला नाम महात्मा खुशहालचन्द 'खुर्सन्द' था। आपका सारा जीवन लोक-सेवा, परोपकार तथा प्रभु-भजन में लगा हुआ है। आरम्भ ही से इनकी रुचि धर्म-कार्यों तथा देश और समाज-सेवा में अधिक रही। जहाँ कहीं कोई आपत्ति आई, ये सेवा के लिए वहीं पहुँच गये। सन् १९०५ ई० में जब जिला काँगड़ा में भयंकर भूकम्प आया, तो वे दूसरे स्वयंसेवकों के साथ अपनी युवावस्था के आरम्भ ही में काँगड़ा जा पहुँचे और भूकम्प-पीड़ितों की सेवा करते हुए इन्होंने रायबहादुर बख्शी सोहनलाल जी से पदक प्राप्त किया।

ज़िला गुजरात के गाँव में प्लेग ने आक्रमण किया तो अपनी मृत्यु से उदासीन, वहीं आर्यसमाज की ओर से रोगियों की सेवा करने लगे। जम्मू-कश्मीर के भिम्बर, नौशहरा, काँगड़ी-कोटली प्रदेश में अकाल पड़ा, तो आर्यसमाज की ओर से हज़ारों मन अन्न लेकर जा पहुँचे। कोहाट (सीमा प्रान्त) में उपद्रवियों ने नगरी को आग लगा दी, तो महात्मा खुशहालचन्द वहाँ भी सेवार्थ जा पहुँचे। मालाबार (मद्रास) में सन् १९२२ में मोपलाओं ने ढाई हज़ार हिन्दुओं को बलात् पतित कर दिया, सहस्रों को शहीद कर दिया, लूटमार में अति कर दी, तो

भी आप दुःखियों, एवं पीड़ितों की सहायता के लिए वहाँ गए और कई महीने सेवा करके एक-एक हिन्दू को फिर से अमृत पिलाकर भगवान् राम, भगवान् कृष्ण का भक्त बनाया। इसी प्रकार बिहार के भूकम्प में तथा कोयटा के भूकम्प में दुःखियों और पीड़ितों की सेवा की। बंगाल में जब भयंकर अकाल में अंग्रेज़ सरकार ही की मूर्खता से सहस्रों मनुष्यों का संहार होने लगा, तो आपने साढ़े तीन लाख रुपये का चावल आर्य-प्रादेशिक-सभा की ओर से बंगाल भिजवाया और स्वयं भी सेवा के लिए बंगाल के पीड़ित प्रदेशों में जा पहुँचे। आपकी निष्काम सेवाएँ देखकर श्री डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने बंगाल की ओर से बँगला भाषा में आपको एक अभिनन्दन-पत्र भेंट किया।

जब पूर्वी बंगाल के चाँदपुर प्रदेश में मुसलमानों ने उपद्रव किया, तो वहाँ अन्न-वस्त्र इत्यादि लेकर पहुँच गए और लाहौर से २५ हिन्दुस्तानी स्काउट्स श्री युद्धवीर जी की अध्यक्षता में आपके साथ गए और बलात् मुसलमान बनाई गई हिन्दू देवियों को फिर से अपने सम्बन्धियों में लाने में सफल हुए। इसी प्रकार अनेक बार ऐसे ही कार्यों में आप सहायक बनते रहे।

तब सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा की ओर से हैदराबाद दक्षिण में धार्मिक सत्याग्रह जारी हुआ, तो आप तीसरे सर्वाधिकारी के रूप में जेल में जा पहुँचे। ऐसे ही सिन्ध-सरकार ने जब 'सत्यार्थप्रकाश' पर प्रतिबन्ध लगाया, तो आप सत्याग्रह करने के लिए श्री महात्मा नारायण स्वामी जी के साथ जनवरी, १९४७ में कराची जा पहुँचे और वहाँ सत्याग्रह किया। वहाँ से सफल होकर लौटे तो मार्च १९४७ में रावलपिण्डी, जेहलम इत्यादि में मुसलमानों ने लूट, कत्ल तथा अग्नि-काण्ड से सर्वनाश आरम्भ कर दिया। आर्यसमाज की ओर से इन्होंने सहायता-कार्य आरम्भ किया और उस प्रदेश के ग्रामों में भ्रमण करके भयानक हत्याकाण्ड देखकर हिन्दुओं को चेतावनी दी कि समय संकट-मय आ पहुँचा है, अतः सावधान होकर रक्षा की तैयारी करनी चाहिए।

देश, आर्य-जाति तथा आर्य-संस्कृति की रक्षा के लिए दो दैनिक

पत्र 'मिलाप' तथा 'हिन्दी मिलाप' जारी किए। हिन्दी-प्रचारार्थ 'हिन्दी मिलाप' में दो लाख रुपया अपने पल्ले से घाटा डालकर भी उसे जारी रखा।

परोपकार तथा सेवा के इन कार्यों के साथ प्रभु-भक्ति का भी विशेष रंग आप पर चढ़ा हुआ है। युवावस्था ही से आप प्रतिवर्ष एक-दो मास के लिए किसी निर्जन वन में निकल जाते, वहाँ अपना भोजन स्वयं बनाते और मौन रहकर आत्मचिन्तन करते तथा सर्वथा एकान्त में रहकर परमात्मा की कृपा के पात्र बनने का यत्न करते। आज तक कितने ही ग्रन्थ आप लिख चुके हैं। उनमें से प्यारा ऋषि, प्रभु-भक्ति, सीता, पार्वती, दमयन्ती, महात्मा हंसराज तथा प्रभु-दर्शन बहुत प्रचलित हैं।

जून १९४५ में रामगढ़ ज़िला नैनीताल में श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज की जयन्ती थी। महात्मा ख़ुशहालचन्द जी भी वहाँ पहुँचे और आपने महात्मा नारायण स्वामी जी के आश्रम में जाकर उनसे प्रार्थना की कि "मैं अब संन्यास लेना चाहता हूँ।" महात्मा जी ने कहा—"क्या बात है, आप तो पहले ही संन्यासियों की तरह धर्म-उपदेश तथा परोपकार के लिए भ्रमण करते ही रहते हैं।" महात्मा ख़ुशहालचन्द कहने लगे कि "यह ठीक है, परन्तु आर्यसमाज तथा हिन्दू-समाज में एक बड़ी भारी शिथिलता देख रहा हूँ। आश्रम-मर्यादा समाप्त-सी हो रही है। वर्णों में केवल लँगड़ा वैश्य-वर्ण रह गया है और आश्रमों में अपाहिज गृहस्थ-आश्रम रह गया है। आर्य-समाज अपने उद्देश्य में सफल न हो सकेगा, यदि त्यागी, तपस्वी, विद्वान् सब बन्धन तोड़कर आगे नहीं बढ़ेंगे। मैं यही विचार चिरकाल से हृदय में दबाये बैठा हूँ। अब तीव्र वैराग्य ने मुझे बाधित कर दिया है कि मैं यह छलाँग लगा दूं।" महात्मा नारायण स्वामी जी ने कहा—"यह बहुत सुन्दर संकल्प है।" तब महात्मा ख़ुशहालचन्द जी ने कहा—"आपकी जयन्ती के शुभ दिन पर ही मेरा यह संकल्प पूरा हो जाय तो अच्छा है। मैं संन्यास की दीक्षा आप ही से लेने की पूरी तैयारी करके आया हूँ।" महात्मा नारायण स्वामी जी ने

कहा—"आपका संन्यास साधारण बात नहीं है। यहाँ जंगल में नहीं, अक्तूबर मास में आर्य-वानप्रस्थ-आश्रम ज्वालापुर में यह शुभकार्य सम्पन्न होना चाहिए।" महात्मा खुशहालचन्द जी ने कहा—"जैसी आपकी आज्ञा।"

तब अक्तूबर आया और चला गया। कोई-न-कोई विघ्न सामने आ जाता था। समय ने भयंकर पलटा खाया। महात्मा नारायण-स्वामी जी रुग्ण हो गए और इधर देश-विभाजन की प्रलयंकारी दुर्घटना भी घट गई। महात्मा नारायण स्वामी जी बरेली के अन्दर श्री डॉ० श्यामस्वरूप जी सत्यव्रत के गृह में बीमार पड़े थे, जो कि सेवा-कर्म में बहुत निपुण हैं। वहीं सितम्बर १९४७ में महात्मा जी का शरीर छूट गया। अब महात्मा खुशहालचन्द जी के सामने प्रश्न आया कि संन्यास-दीक्षा किससे लें? तब इनकी दृष्टि वीतराग, श्री ब्रह्म-निष्ठ, योगनिष्णात श्री १०८ स्वामी आत्मानन्द जी पर पड़ी। आप उनकी सेवा में वैदिक-साधन-आश्रम जमुनानगर में पहुँचे और पिछली सारी कथा सुनाकर निवेदन किया कि—"आप कृपया मुझे दीक्षा दें" जिसे स्वामी जी ने सहर्ष स्वीकार किया। तब पहली दिसम्बर १९४९ को आपको संन्यास-दीक्षा मिली और आपका नाम

आनन्द स्वामी सरस्वती

रखा गया। ऐसे गुरु पाकर महात्मा आनन्द स्वामी कृतार्थ हो गए और महात्मा आनन्द स्वामी जैसा शिष्य पाकर श्री

स्वामी आत्मानन्द जी महाराज

भी आनन्दित हो गए।

संन्यास धारण करने के पश्चात् महात्मा आनन्द स्वामी जी देहरादून रेलवे स्टेशन से तीन मील परे रायपुर की ओर नालापानी के घने जंगल 'तपोवन' में पहुँचे। वहीं एक पर्णकुटी बनाकर आत्म-चिन्तन में संलग्न हो गए और तीव्र भक्ति द्वारा प्रभु-कृपा की याचना करने लगे। अब तो तपोवन से एक मील नीचे श्री बाबा गुरुमुखसिंह जी ने एक विशाल आश्रम अपने तप से बनवा दिया है और तपोवन-आश्रम एक आध्यात्मिक केन्द्र (Spiritual Centre) बन गया है, जहाँ

मानसिक शान्ति के लिए साधक लोग जाकर निस्सन्देह सन्तोष तथा शान्ति पाते हैं।

ऐसे महानुभाव के दीर्घकाल के अनुभव का परिणाम यह ग्रन्थ 'तत्त्वज्ञान' है। अवश्य इसमें आप तथ्य, रहस्य और सार निकला हुआ पायेंगे।

गोविन्दराम हासानन्द

नई सड़क, दिल्ली
१-१-५३

: १ :

प्रस्तावना

कितना गम्भीर विषय है यह—तत्त्वज्ञान, जिसका वर्णन करते-करते बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी अन्त में यही कहते सुने गए कि "यदि कहें कि जान लिया, तो यह अत्युक्ति है और यदि कहें कि जाना नहीं, तो यह भी यथार्थ नहीं है। हाँ, यह कह सकते हैं कि समुद्र का जल जितना एक नन्हे-से सीमित लोटे में आ सकता है, उतना अल्पज्ञ ने सर्वज्ञ को जाना"—और जब वे उस अथाह तत्त्व का व्याख्यान करते-करते कोई थाह नहीं पाते, तब "नेति-नेति" पुकारकर मौन हो जाते हैं।

जब तत्त्वज्ञानियों की इस घाट पर यह दशा होती है, तब मेरा यहाँ ठिकाना कहाँ? और उसकी महिमा तो वाणी तथा मन की पहुँच से बहुत परे है, बुद्धि की दौड़ से भी। यह मन, बुद्धि तथा दूसरे सारे इन्द्रिय तो जड़ हैं। ये भला उस आत्मतत्त्व की बात क्या कह सकेंगे? तो फिर तुम 'तत्त्वज्ञान' की बात कहने का श्रम क्यों करते हो?

यह श्रम क्यों?

मेरा श्रम तो इसलिए है ताकि मेरी वाणी उस परमतत्त्व परमात्मा की चर्चा करने से कृतार्थ हो सके, मेरा मन उस परमतत्त्व के चिन्तन से पवित्र हो सके, मेरी बुद्धि उस परम-तत्त्व के गूढ़ार्थ से तीव्र तथा निर्मल हो सके। इसी बहाने (हेतु) से हे परम तत्त्व! तेरे गुण-गान करने का कुछ पुण्य प्राप्त हो जायेगा और इसी में जीवन की सफलता समझूँगा। अन्यथा इस संसार-सागर की गति को देखकर, इसमें पड़े जीवों की दयनीय अवस्था को देखकर, प्राणियों के हाहाकार और दुःखियों के करुण क्रन्दन को सुनकर तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि बहुत बुरी तरह से फँस गए हैं। कैसे छुटकारा मिलेगा इससे? इस

संसार-सागर से कैसे तरेंगे? ये सारे दुःखित-त्रसित जीव क्या इसी प्रकार तड़पते रहेंगे? क्या इस अवस्था से ऊपर उठने का कोई उपाय ही नहीं है?

हम कैसे फँस गये संसार-सागर के इस मँझधार में? यह सागर कैसे प्रकट हो गया? यह सब-कुछ क्या है? क्या हम कोई भयावना स्वप्न देख रहे हैं? या वास्तव में भोग रहे हैं?

क्या यही है दुनिया ?

कहते हैं यह संसार परमात्मा ने बनाया है। यदि उसी ने बनाया है, तो क्यों बनाया? कौन गया उससे प्रार्थना करने कि सृष्टि बना दे? यदि किसी के कहने पर ही जगत् बनाया था, तो फिर इसमें इतने दुःख क्यों? इतना रुदन क्यों? इतनी पीड़ा क्यों? इतना वैमनस्य क्यों? मनुष्य ही मनुष्य के रक्त का प्यासा क्यों? क्या यही मानवता है, जिसका नग्न रूप हम इन आँखों से देख रहे हैं? मानव-रक्त से वसुन्धरा की प्यास बुझाई जाती है। इस भूमि की खेतियाँ मानवी अस्थियों के चूर्ण से उपजाऊ बनाई जाती हैं। एक मानव-दल दूसरे मानव-दल के सत्यानाश में अपना गौरव समझता है। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ धू-धू करके जल रही हैं और अपने-आपको मानव कहनेवाला, अग्नि की उन प्रचण्ड ज्वालाओं में जीते जी जलनेवाली सहस्रों सतियों के हाहाकार को सुनकर अट्टहास करता है!—शिशु अनाथ होते हैं, तो क्या? नवविवाहिताएँ विधवा होती हैं, तो क्या? रोगी और स्वस्थ नकली खाद्य पदार्थों से मरते हैं, तो क्या?—यही है क्या सृष्टि? यदि किसी का नाम सृष्टि है, तो प्रलय किसे कहेंगे? जीवन यह है, तो मृत्यु क्या होगी?

इसपर भी इस युग का मनुष्य कहता है कि वह बड़ा सभ्य हो गया है। ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा, विद्या, नये-नये आविष्कार और सुधार, नये-नये विधान और सारे देशों के मनुष्यों का जीवनस्तर ऊँचा करने की नित्य नई योजनाएँ—कितना भारी विस्तार और यत्न दिखलाई देता है! परन्तु परिणाम क्या है?—दुःख, कष्ट, घृणा, राग, द्वेष, स्वार्थ, वैमनस्य और सर्वनाश!

सब असफल हो गए

आधुनिक दुनिया में कार्ल मार्क्स उठा, लेनिन और स्टालिन ने परिश्रम किया, ताकि दुनिया के श्रमजीवियों को एकत्र करके नई दुनिया और नया आकाश बना दिया जाय। हिंसात्मक वृत्ति की ज्वाला जगा दी गई। आत्मा को ठुकरा दिया गया और देख लो—रूस का साम्यवाद किसी एक भी देश को सुखी न कर सका। और तो और, स्वयं रूस भी सुखी न हो सका। अमेरिका अपनी चार प्रकार की स्वतन्त्रताओं की पताका लेकर खड़ा हुआ—अथाह धनराशि, ऐटम बम और सैनिक दल-बल के साथ। वह भी सफल न हो सका। इंगलिस्तान अपनी कूट राजनीति के बल-बूते पर यह कहता सामने आया कि फूट डालो और राज्य करो; परन्तु वह भी असफल हो चुका है। सारे देशों की साझी सुरक्षा-कौंसिल बनी थी कि संसार में युद्ध नहीं होने देंगे, परन्तु यह स्वयं कोरिया के नन्हे-से युद्ध में ऐसी फँसी कि उससे बाहर निकलना भी उसे कठिन प्रतीत हो गया। वह भी असफल हो गई है।

भारत उठा था—हिन्दू-मुसलमानों को एक करके रामराज्य स्थापित करने के लिए और इसके नेताओं ने अपना राज-धर्म बनाया 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' (Secular State), परन्तु यह भी सर्वथा असफल हो चुका है। पाकिस्तानवालों ने तो अपनी नींव ही घृणा, कत्ल आग और लूटमार पर रखी थी। समझा और कहा यह था कि पाकिस्तान बनते ही ज़मीन पर बहिश्त (स्वर्ग) आ जाएगा, परन्तु वह भी बुरी तरह असफल हुआ और चारों खाने चित गिरा। यूरोप के सारे ईसाई देश भी असफल हो चुके हैं।

परिणाम—हाहाकार

अब यह जो शोर सुनते आ रहे थे कि प्रगतिशील बनो, प्रगतिशील बनो, पुरानी और थोथी बातें छोड़ो, क्या प्रगति के अर्थ यही थे? भूख, रोग, महामारी, व्यभिचार, युद्ध, अनाचार, अत्याचार, रक्तपात और रुदन तथा हाहाकार!!

यह सब-कुछ देखकर हृदय रखनेवाले के रोमांच हो जाता है और वह पुकार उठता हैं—क्या इस दयनीय अवस्था से, भँवरों तथा मँझधारों से भरपूर इस संसार-सागर से पार हो जाने का कोई उपाय है या नहीं ?

डरो मत, उपाय है

तब उसे एक ध्वनि सुनाई देती है :

मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्ति नाशः संसारतरणेऽस्त्युपायः ।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥

'हे विद्वान् ! तू डर मत, तेरा नाश नहीं होगा। संसार-सागर से तरने का उपाय है। जिस मार्ग से यतिजन इसके पार गये हैं, वह मार्ग मैं तुझे दिखाता हूँ।'

वह मार्ग 'तत्त्वज्ञान' ही का मार्ग है। जब तत्त्वविवेक द्वारा यह जान लिया जाय कि यह सारा दृश्य-जगत् क्या है, तो इस मनुष्य-शरीर तथा लोक-लोकान्तरों और देश-देशान्तरों का मूल्य समझ में आ जाता है। तब मानव मानवता को रुदन करने का अवसर नहीं देता। तब मनुष्य मनुष्य का रक्त नहीं पीता। तब एक मानव-दल दूसरे मनुष्यों का संहार नहीं करता अपितु उनसे प्रेम करता है, उन्हें आत्मज समझता है; अपना ही रूप और अपना ही साथी, सम्बन्धी और प्यारा मानने लगता है। मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, रक्त, चर्म, त्वचा—इन सात धातुओं से बने मानव-शरीर के लिए फिर वह दूसरों के नाश का यत्न नहीं करेगा। दूसरों की हानि या नाश की भावना केवल इसलिए उत्पन्न होती है, ताकि विषयों का उपभोग किया जा सके। विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—का ज्ञान करानेवाले ज्ञानेन्द्रिय—श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण—हैं। जब ये ज्ञान कराते हैं तो फिर पाँच कर्मेन्द्रियों—वाक्, हस्त, पाद, गुदा और उपस्थ—का झुकाव कर्मों की ओर हो जाता है। यदि तत्त्वविवेक से यह प्रकट हो जाय कि सारे पदार्थ जड़ हैं और ये मुझे मेरी सेवा, सहायता तथा कार्य-सिद्धि के लिए मिले हैं, तो मानव फिर विषयों में फँसेगा नहीं, अपितु विषयों को विष समझकर दूर ही से त्याग देगा। हाँ, विष

को भी जब भस्म के रूप में या शोधकर शुद्ध कर लिया जाता है, तो वह नाना रोगों को दूर करने के लिए अमृत बन जाता है। इसी प्रकार ये विषय भी जब सत्त्वगुण-प्रधान आत्मा-बुद्धि द्वारा शोध लिये जाते हैं, तो अमृतवत् हो जाते हैं।

इस ग्रन्थ में क्या है ?

इन सारी इन्द्रियों को विषयों की ओर ले-जानेवाला एक सूक्ष्म इन्द्रिय मन है। यह सारी इन्द्रियों का कण्ट्रोलर है। यदि इसको मनुष्य अपने वश में रख सके तो फिर इन्द्रिय भी मानव के सच्चे सहायक बन जाते हैं। तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए मन का निग्रह अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए आपको इस ग्रन्थ में सबसे पहले इस मन-रूपी व्याघ्र को वश में करने का प्रकरण मिलेगा जिस मन के सम्बन्ध में श्री शंकराचार्य जी ने यह घोषणा की थी :

मनो नाम महाव्याघ्रो विषयारण्यभूमिषु ।
चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः ॥

'मन नाम का भयंकर व्याघ्र विषयरूपी वन में घूमता फिरता है। जो साधु मुमुक्षु हैं वे वहाँ न जाएँ।'

परन्तु मन हमारा शत्रु नहीं, यह तो हमारा मित्र है। केवल इसकी वृत्ति का काँटा बदल देना है। प्राण तथा ध्यान द्वारा इस व्याघ्र को अपना दास बनाने के उपाय आप इस पुस्तक में पढ़ेंगे। परन्तु प्राण तथा ध्यान एक दृढ़ आसन ही से सिद्ध हो सकते हैं। दृढ़ आसन के लिए शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है और शरीर को ठीक रखने के लिए आयुर्वेद ने तीन उपस्तम्भों का वर्णन किया है—आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य। इन तीनों की जानकारी आपके लिए बहुत लाभदायक होगी। शरीर स्वस्थ होने पर प्राणायाम तथा ध्यान सुगम हो जाता है, जिसके कितने ही अनुभव आपको इस पुस्तक में मिलेंगे। ध्यान-अवस्था से फिर समाधि में पहुँचना होता है। तभी सारे तत्त्वों से निखरे हुए आत्मा के दर्शन होते हैं। महामुनि गौतम ने न्याय दर्शन ४।२।३८ में कहा भी है :

"समाधिविशेषाभ्यासात् ।"

'समाधि-विशेष के अभ्यास से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है।' तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनने के लिए पर्याप्त तैयारी करनी पड़ती है। इसका वर्णन भी विस्तार से किया गया है, और आत्म-अनात्म, तत्त्वविवेक, वैराग्य—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान. और मुमुक्षुत्व तथा प्रभु-कृपा प्राप्त करने के लिए अनन्यभक्ति-तत्त्व का प्रयोग—इन सारे साधनों का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है।

वैराग्य की भावना के उद्बोधन के लिए भगवान् राम की व्यथा की कथा का भी वर्णन किया गया है और अन्त में, संसार का तत्त्व क्या है, इसका रहस्य भी खोल दिया है। वेद भगवान् तथा उपनिषदों द्वारा मिले आदेश भी आप इसमें पढ़ेंगे। मूल तत्त्व तो दो ही हैं—आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व। प्रकृति के ही द्वारा परमतत्त्व की छोटी-सी सामर्थ्य से सृष्टि को बनानेवाले तत्त्व प्रकट हुए। जीवात्मा का उसके साथ सम्बन्ध हुआ और सुप्त-अवस्था जाग्रत् में बदल गई। जिस प्रकृति को परमात्मा ने गति दी, वह तीन गुणोंवाली थी—सत्त्व, रजस्, तमस् गुणवाली। ये ही गुण आगे सारे तत्त्वों में भी गये। ये ही तीन गुण संसार की हर वस्तु, हर पदार्थ में न्यूनाधिक, नाना मात्राओं में विद्यमान हैं। इन्हीं के कारण सृष्टि में महाभिन्नता दिखलाई देती है; नाना रूप, नाना योनियाँ, नाना विचारधाराएँ और नाना नाम सामने आते हैं। वास्तव में यह जग तीन गुणोंवाली प्रकृति का विकार और जीवात्मा के कर्मों ही का विस्तार है। इस विवेक से मनुष्य समझने लगता है कि जब तक जीवात्मा प्रकृति के तत्त्वों में फँसा है, इन्हीं की चेष्टाओं की पूर्ति में लगा है, तब तक इसे किसी प्रकार की शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। दुनिया के आधुनिक वैज्ञानिक तथा विद्वान् जितना भी यत्न चाहें कर लें, केवल भौतिक तत्त्वों को प्रसन्न करने, केवल माया की आज्ञाओं को पालने और केवल अनात्म वस्तुओं के एकत्र करने से दुःख बढ़ तो सकते हैं, कम नहीं हो सकते। सुख प्रवृत्ति में नहीं, निवृत्ति में है। ये ही दो मार्ग सृष्टि की जनता के सामने खुलते हैं; इन्हीं को प्रेय तथा श्रेय मार्ग भी कहते हैं। इन्हीं पर चलकर या तो आसुरी सम्पदा इकट्ठी होती है या दैवी सम्पदा।

तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेवाले दैवी सम्पदा को पसन्द करते हैं; तत्त्वज्ञान से शून्य आसुरी सम्पदा को प्यारा समझते हैं, तभी वे मृगतृष्णा के जल की तरह सुख के धोखे में दुःख-सागर में जा गिरते हैं। आज दुनिया के बहुत-से लोग आसुरी सम्पदा एकत्र करने में लगे हुए हैं। शंका हो सकती है कि इस प्रकार से दुनिया की उन्नति तथा प्रगति सर्वथा रुक जायेगी। परन्तु ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि आसुरी या दैवी सम्पदा का सम्बन्ध संसार के नाना पदार्थों, वस्तुओं, आविष्कारों से नहीं अपितु अन्तःकरण से है। संसार की कोई वस्तु धन, वैभव, ऐश्वर्य इत्यादि न आसुरी हैं, न दैवी। हाँ, इनका प्रयोग जिस भावना, जिस वृत्ति, जिस लक्ष्य और जिस उद्देश्य से होता है, वह उसे आसुरी या दैवी बना देता है। धन एक साधन-मात्र है। इसका दुरुपयोग आसुरी भावना से होता है और सदुपयोग दैवी भावना से किया जाता है।

दुनिया की सबसे बड़ी आवश्यकता

आज की दुनिया की सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि दुनियावालों को बतलाया जाय कि जिस सम्पदा के तुम पुजारी बने बैठे हो, वही सम्पदा दुःखी कर रही है और आगे और भी अधिक दुःख-सागर में डुबो देगी। नाना प्रकार के दुःखों, झगड़ों और आपत्तियों से बचना है तो पहले तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लो। फिर ये ही नये-नये आविष्कार, हर प्रकार के धन और नई प्रगति तुम्हारे सुख का हेतु बन जायेंगे। क्योंकि :

"ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः।"

'तत्त्वज्ञान हो जाने पर संसार तुच्छ प्रतीत होने लगता है।' योगशिखोपनिषद् में ब्रह्म को महेश्वर यह रहस्य बतलाते हैं :

'परम-तत्त्व के ज्ञान से ही मन स्थिर हो सकता है।' यह तत्त्वज्ञान कितना अनिवार्य है, इसे प्रकट करने के लिए यहाँ तक कह डाला कि :

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।

'परम-तत्त्व को यदि न जाना, तो शास्त्राध्ययन निष्फल (व्यर्थ) ही है।'

यह तत्त्वज्ञान मानव-शरीर ही में प्राप्त हो सकता है। इस दुर्लभ साधन 'मनुष्यत्व' को पाकर भी यदि तत्त्वज्ञान प्राप्त न किया तो फिर कब किया जायेगा ? इसी विचार से कि इस मानव को तत्त्व-ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ सुभीता प्राप्त हो, यह पुस्तक आप तक पहुँचाई जा रही है।

पुस्तक लिखने में कठिनाई

इसके लिखने में सबसे बड़ी कठिनाई तो यही थी कि यह विषय बड़ा गहन-गम्भीर है और मेरी बुद्धि अल्प है, परन्तु एक और कठिनाई जो सामने आकर खड़ी हो गई, वह यह थी कि जब ध्यान-अवस्था में तत्त्व-विचार होता, भिन्न-भिन्न तत्त्वों का निरीक्षण होता, विवेक होता, तो सब-कुछ स्पष्ट देखा जाता कि समष्टि-रूप सूक्ष्म तन्मात्राएँ किस प्रकार अब भी नित्य नई सृष्टि रचने में लग गई हैं। रूप-तन्मात्रा की ज्योति कितनी सुन्दरता से सब दृश्य दिखलाती है और आगे बढ़ते-बढ़ते केवल एक अत्यन्त शुभ्र विस्तृत प्रकाश ही रह जाता है; फिर और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं रहता। यह सब ध्यान-अवस्था में तो प्रत्यक्ष होता है, परन्तु ध्यान-अवस्था से बाहर आकर जब लिखने के लिए तैयार होता, तो कुछ भी न लिख पाता और अब भी अवस्था यही है—जो कुछ ध्यान-अवस्था में देखा गया है, आत्म तथा अनात्म पदार्थ का जो पृथक्-पृथक् दृश्य अनुभव हुआ है, वह लेखनी में लाने में मैं सर्वथा असमर्थ रहा हूँ। वह 'सर्वत्तत्त्वैर्विशुद्धम्' सारे भौतिक तत्त्वों में सर्वथा अलग ही झाँकी, एक ऐसी अवस्था में ले जाती है, जहाँ लिखना-पढ़ना क्या, कुछ भी सङ्कल्प नहीं रहता। हाँ, मुण्डक ऋषि के शब्दों में इतना कहा जा सकता है :

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः॥

मुण्ड० २।२।९॥

'सुनहरी परम कोश (हृदय-कमल) में निर्मल निरवयव ब्रह्म है, वह शुभ्र है, ज्योतियों का ज्योति है; उसको वे जानते हैं जो आत्मा (अपने-आप) को पहचानते हैं।'

केनोपनिषद् के ऋषि का अनुभव यह है कि :

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।।

केन० प्रथम खण्ड ३ ।।

'वहाँ—परमात्मा में न आँख जाती है, न वाणी जाती है, न ही मन जाता है, न हम जानते हैं, न पहचानते हैं, जैसा कि इसे दूसरे को ज्यों-का-त्यों समझा सकें, क्योंकि वह विदित से अन्य ही है, और अविदित से भी परे है।' ऐसे परमतत्त्व का गूढ़ रहस्य जितना एक अल्पज्ञ की समझ में आ सकता है, उतना भी प्राप्त करने के लिए जिस ध्यान और समाधि-अवस्था तक पहुँचना आवश्यक है, उसका वर्णन भी इस ग्रन्थ में कर दिया गया है।

जब यही अवस्था मानव को परमानन्द अनुभव कराती है, तब साधक शरीर को तो दुःख-सुख भोगने का साधन समझता है और आत्मा को आनन्द पाने का पात्र। जब तक शरीर है, तब तक तो पूरी शान्ति मिल ही नहीं सकती। जैसा कि छान्दोग्य के ऋषि ने भी कहा है :

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ।

'देह-धारण की अवस्था में प्रिय-अप्रिय विषयों के ग्रहण से होने-वाली व्याकुलता कभी भी नहीं मिटती।'

भक्त कबीर ने भी ऐसा ही कहा है :

देह धरे को दण्ड है, सब काहू को होय ।
ज्ञानी भुगते ज्ञान सों, मूरख भुगते रोय ।।

इस अवस्था तक पहुँचने के लिए, जिस मनुष्य का एक क्षण भी मनोनिग्रह, वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के साधन में व्यतीत होता है, वह बड़ा भाग्यशाली है और अपने कुल तथा देश के लिए भी कल्याणकारी है क्योंकि ऐसे ही महात्मा दुःखी दुनिया को सुखी बनाने की सामर्थ्य रखते हैं, कोरे वैज्ञानिक या विद्याभिमानी नहीं।

भारत के गीत स्वर्ग में

सारे संसार को इस अमृत से तृप्त करना आर्य का कर्त्तव्य है, परन्तु भारत देश को तो इसकी यह खोई हुई सम्पत्ति अति शीघ्र

मिलनी चाहिये, क्योंकि यह भारत देश ऐसा है, जिसके गीत स्वर्ग में भी गाये जाते हैं। विष्णु पुराण में लिखा है :

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

'स्वर्ग में देवता भी ये गीत गाते हैं कि वे पुरुष धन्य हैं, जो भोग तथा मोक्ष की साधना-भूत भारत-भूमि में जन्म लेते हैं।'

सो आप भी धन्य हैं, जिनका जन्म भारत-भूमि में हुआ है। ऐसे मधुर अवसर को पाकर भी लाभ न उठाया, तो पश्चात्ताप ही होगा। कुछ समय निकालकर इसका एक स्वाद चखकर तो देखिये और यह अटल सत्य सामने रखिये कि :

कहे नानक तत्त्व विचारा।
प्रभु सिमरन बिन नहीं निस्तारा॥

क्योंकि उसी शान्त, गम्भीर, निर्मल, ज्योतिःस्वरूप और परम-तत्त्व परमात्मा को जानकर ही दुःखों से छुटकारा हो सकता है :

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४। १४॥

'जो सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म, गहन, गम्भीर, संसार के मध्य में, विश्व का बनानेवाला, अनेकों रूपोंवाला, अकेला सारे विश्व को घेरनेवाला है, उस शिव को जानकर ही मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है।'

यही निष्कर्ष सारे अनुभवी तपस्वियों, योगियों, विद्वानों तथा भक्तों ने निकाला है।

इस पुस्तक के तैयार करने में कितने ही ग्रन्थों से सहायता ली गई है, जिनका वर्णन यथास्थान साथ-साथ कर दिया है। उनके रचयिताओं का मैं आभारी हूँ।

गंगातीर—नाथ-कुटीर
उत्तर काशी
विजयदशमी, २००६ वि०

तत्त्वज्ञानियों का सेवक—
आनन्द स्वामी सरस्वती

: २ :

हृदय की पुकार

वासनाक्षय और मन

दीपक जल रहा है। यदि वायु का झोंका इसे बुझा न दे, तो यह जलता रहेगा। हाँ, तब तक जलता रहेगा, जब तक इसका तेल तथा बत्ती समाप्त नहीं हो जाती। जब तेल-बत्ती दोनों का अभाव हो जायेगा, तो दीपक का भी अभाव हो जायेगा। परन्तु यह न समझिये कि इनका नाश हो गया है; अपितु यह समझिये कि इनका रूपान्तर हो गया है।

यदि साधक अपने चित्त में कोई नई वासना न आने दे, तो चित्त की वासनाओं का दीपक समय आने पर स्वयमेव शान्त हो जायेगा, जन्म-जन्मान्तरों की एकत्रित वासनाओं का तेल जलते-जलते एक दिन तो समाप्त हो ही जाना है। हाँ, वासनाओं का नया तेल इस दीपक में साधक को नहीं डालना चाहिये। नया तेल पड़े नहीं, पुराना तेल जलता जाय, तब वासना का दीपक अवश्य शान्त हो जायेगा। इसी को वासनाक्षय कहते हैं।

इसी अवस्था के सम्बन्ध में यम ने नचिकेता को कहा था कि :

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ कठ० ६ । १४ ॥

'जब सारी कामनाएँ, जो इसके हृदय में हैं, छूट जाती हैं तो मनुष्य अमृत हो जाता है—इस अवस्था में ब्रह्म को प्राप्त होता है।'

परन्तु वासना तब तक पीछा नहीं छोड़ती, जब तक मन अपना संसार निर्माण करता रहता है। और मनुष्य है मननशील; यह मन सोते-जागते, उठते-बैठते, हर समय नई-से-नई दुनिया बनाता रहता है। तब वासना का क्षय कैसे हो सकेगा? और मन का तो ऐसा कपि-स्वभाव है कि यह एक क्षण के लिए भी निश्चल नहीं होता। सत्य तो यह है कि मनुष्य इस मन का बँधा ही बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र में

भ्रमण करता और ऐसे कष्ट सहन करता है कि जिनके विचार से भी शरीर कम्पित हो उठता है। फिर यह मन ही एक ऐसा साधन है जिससे संसार के सारे कार्य सिद्ध भी होते हैं और बिगड़ते भी हैं। वेद भगवान् ने तो कहा भी है :

'यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते।' यजु० ३४ । ३ ॥

'जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता।'

फिर वेद ने यह भी आदेश दे दिया कि :

'कथं न रमते मनः।' अथर्व० १० । ७ । ३७ ॥

'मन तो कभीं दम लेता नहीं।'

जिस मन के सम्बन्ध में वेद ने यह भी घोषणा कर रखी है :

स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित् ॥

ऋ० ५ । ३० । ४ ॥

'भगवान् इन्द्र की इच्छा करनेवाले ! यदि तू समर्थ होकर मन को स्थिर करे, तो तू अकेला ही बहुतों (अनेक विघ्न-बाधाओं तथा विषयों) को भी युद्ध में जीत सकता है।

मन से मन का दमन

परन्तु इसका स्थिर होना ही तो एक बहुत बड़ी समस्या है।

पुनः मन में जो संकल्प-विकल्प तरंगवत् उठते रहते हैं, उनका अन्त ही नहीं होता। उनके द्वारा जीव कितनी विपत्तियों में फँसा रहता है, इसका तो अनुमान लगाना भी कठिन है। योगवासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग १११ में कहा है :

भीमा संभ्रमदायिन्यः सङ्कल्पकारणादिमाः ।
विपदः संप्रसूयन्ते मृगतृष्णाः मराविव ॥ ३९ ॥

'संकल्परूपी क्लेश से भयंकर अनेक संभ्रम को देनेवाली विपत्तियाँ इस प्रकार उत्पन्न होती हैं जैसे मरुस्थल में मृगतृष्णा की नदियाँ।'

भगवान् राम ने कितनी आतुरता से ऋषि से यह कहा था :

कथमस्यातिलोलस्य वेगो वेगैककारणम् ।
चलतो मनसो ब्रह्मन्बलतो विनिवार्यते ॥

उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११२ । २ ॥

'हे भगवन्! अतिचंचल जो यह मन है, उसका वेग सम्पूर्ण तीव्र वेगों का मुख्य कारण है। वह बल से भी कैसे निवारण किया जाये?'

तब गुरु वसिष्ठ जी ने कहा था कि :

नेह चंचलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते।
चंचलत्वं मनो धर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता॥

'हे राम जी! इस ब्रह्माण्ड में चंचलता से शून्य मन तो कहीं भी नहीं देख पड़ता। चंचलता मन का ऐसा धर्म है जैसे अग्नि का धर्म उष्णत्व है।'

यहाँ तक ही नहीं, योगवासिष्ठ ने तो यह भी कह डाला कि :

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि।
अपि वह्न्यशनात् साधो विषमश्चित्तनिग्रहः॥

'समुद्र को पी डालने से, सुमेरु पर्वत को उखाड़ डालने से या फिर दहकते हुए अंगारों को सटक लेने से भी हे साधो! इस चित्त का निग्रह कर लेना कहीं कठिन है।'

योगवासिष्ठ की यह बात सुनकर कहीं निराश ही न हो जाना। इसने भी मनोनिग्रह महाकठिन तो कहा है, परन्तु असम्भव नहीं कहा। मन का स्थिर करना निस्सन्देह कठिन है; यदि असम्भव होता तो वेद यह भी न कहता कि :

'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्राः।' ऋ० ५।८१।१॥

'बुद्धिमान् योगीजन मन को युक्त, समाहित करते हैं और धारणाओं एवं वृत्तियों को युक्त, समाहित करते हैं।' अतएव उदास, निराश, हताश होने की आवश्यकता नहीं। हाँ, सावधान होने की अवश्य ज़रूरत है। यदि मनुष्य-जन्म पाकर भी हम सावधान न हुए तो फिर निस्सन्देह यह मन नाना योनियों में घुमाता फिरेगा।

'अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगत्।' पंचदशी॥

'यही निश्चय करना पड़ता है कि जीव का मानस-जगत् ही सबको बन्धन में डालता है।'

शुकदेव ने जब जनक जी से यह पूछा कि यह संसाररूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ? तो जीवन्मुक्त जनक जी ने यही उत्तर दिया कि

'मन के विकल्प'[1] से यह संसार उत्पन्न होता है और विकल्प के क्षय होने पर यह नष्ट हो जाया करता है।'

श्रीमद्भागवत में भी कहा है :

मनः सृजति वैदेहान्गुणान्कर्माणि चात्मनः।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः॥ १२।५।६॥

'एकमात्र मन'[2] ही इस आत्मा के लिए देह, गुण तथा कर्मादि की रचना करता है और उस मन को माया रचती है। उस मायारूपी उपाधि के कारण ही जीव को जन्म-मरण रूपी संसार प्राप्त होता है।'

इसी भागवत के ११वें स्कन्ध में यह कहा है :

नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवतात्माग्रहकर्मकालाः।
मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत्॥
भाग० २३।४३॥

'मेरे सुख-दुःख का कारण ये लोग नहीं हैं; देवता और आत्मा भी नहीं हैं; ग्रह, कर्म, काल भी नहीं हैं; जो संसार-चक्र को चलाता है, उस मन को ही सुख-दुःख का कारण कहते हैं।' यह मन ही सबको संसार में लिये फिरने का साधन है। यदि मन को संकल्प-विकल्प-रहित कर दिया जाय, तब संसार की वासनाएँ कहाँ टिकेंगी ? मन का दमन करने की युक्ति गुरु वसिष्ठ ने यह बतलाई है :

'मन एव समर्थं वो मनसो दृढनिग्रहे।'

'हे राम जी ! तुम्हारा मन ही मन को दमन करने में समर्थ है।' यहाँ मन का प्रयोजन केवल मन ही नहीं, अपितु बुद्धि तथा चित्त से मिला हुआ मन अभिप्रेत है। मन बेचारा अकेला तो कुछ भी नहीं। इसका काम तो केवल ग्रहण करना और छोड़ना है। जब मन किसी इन्द्रिय द्वारा किसी वस्तु या विषय को ग्रहण करता है, तो उसे तत्काल

---

१. अज्ञानोपहित अन्तःकरण में नाना प्रकार के संसार की कल्पना का नाम विकल्प है।

२. अर्थात् आत्मा के पास मन ही वह हथियार है, जिसके द्वारा जीवात्मा कर्म करता है।

बुद्धि के पास पहुँचा देता है। वह वस्तु अच्छी है या बुरी, सेवन करने योग्य है या अयोग्य, धर्म-मर्यादानुसार है या विपरीत, उचित है अथवा अनुचित, इसका निश्चय यह मन नहीं करता, बुद्धि करती है। यदि बुद्धि का निश्चय यह है कि यह वस्तु ठीक है, तब चित्त उसे धारण कर लेता है और तब संसार बनने लगता है। अब राग की उत्पत्ति हो गई; उस वस्तु में एक प्रकार की ममता आने लगी। उसे प्राप्त करने के लिए अनेक योजनाएँ बुद्धि ने बनानी आरम्भ कर दीं। यदि उसका मिलना कठिन प्रतीत हुआ, तब क्रोध की ज्वाला भड़की। क्रोध की अग्नि प्रज्वलित होते ही बुद्धि के अत्यन्त सूक्ष्म तन्तु गर्म होने लगते हैं। वह फिर अपना कार्य भली-भाँति नहीं कर सकती। यदि तमोगुण-प्रधान है, तो क्रोध बुद्धि का सर्वथा नाश कर देता है और मनुष्य से ऐसा घृणित कर्म करा देता है कि तत्पश्चात् उसे स्वयं लज्जा आने लगती है। यदि रजोगुण-प्रधान है तो हानि तो बहुत पहुँचाता है, परन्तु मात्रा अधिक नहीं बढ़ती। यदि सत्त्वगुण-प्रधान हो, तो पहले तो क्रोध आता ही नहीं, यदि आ भी जाय, तो बिना हानि पहुँचाये ही शान्त हो जाता है। परन्तु अपनी रेखा चित्त पर छोड़ जाता है।

अब आप देखिये कि मन ने तो केवल किसी एक इन्द्रिय द्वारा किसी वस्तु का ग्रहण-मात्र किया और यहाँ संसार बनना आरम्भ हो गया। वासनाएँ इसी प्रकार से बनती हैं। मन ने ग्रहण करने से रुकना नहीं और वासनाओं का अन्त होना नहीं। तो क्या फिर निराश हो जाएँ? नहीं, ऐसी बात नहीं है।

न्याय-दर्शन का आदेश

न्याय-दर्शन में बहुत आशाजनक तथ्य बतलाया गया है। वह यह कि—मन[1] एक समय में एक ही काम कर सकता है, दो नहीं। चरक-संहिता के शरीर-स्थान में भी मन का यही लक्षण किया गया है :

लक्षण—मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव वा ॥ १६ ॥

---

१. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्। न्याय० १। १। १६॥

'ज्ञान होना और ज्ञान न होना, मन का लक्षण है अर्थात् एक काल में एक वस्तु का ज्ञान होना और दूसरी का न होना, या यूँ कहिये कि दो ज्ञानों का एक ही काल में उत्पन्न न होना, मन का लक्षण है।'

मन ने किसी-न-किसी वस्तु को एक समय में पकड़ना ही है। तब इस मन से कहो, भैया ! तुमने तो किसी वस्तु को ग्रहण करना ही है, तब नाशवान् संसारी वस्तुएँ क्यों पकड़ते हो ? उस अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध, निर्मल, ब्रह्म-तत्त्व को क्यों न ग्रहण कर लो, जिसके ग्रहण कर लेने से फिर शेष कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं रहता ? इस परिवर्तनशील संसार में सार वस्तु केवल आत्मा ही है, बाकी सारा आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी ही का पसारा है और यह सब नाश होनेवाला है। जिस सुन्दर रूप पर तू मुग्ध हो रहा है, जिस स्वादु भोजन के पीछे तू राल टपका रहा है, जिस मधुर सुरीली स्वर-लहरी पर तू कान रखे है, जिस कोमलता के लिए तू हस्तीवत् उन्मत्त हो रहा है, जो सुगन्ध तुझे भँवरे की भाँति मृत्यु का ग्रास बनाना चाहती है—यह सब पाँच भूतों की सृष्टि है, और कुछ भी नहीं। यह अभी है, अभी इसका रूपान्तर हो जायेगा।

क्या सारे सम्बन्ध झूठे हैं ?

प्यारे भाई से मुझे कितना स्नेह था ! मेरे पतिदेव मेरे पर प्राण न्योछावर करते थे। पत्नी कितनी धर्म-परायणा, कितनी सच्ची, सेविका, कितनी रूपवती और कितनी मीठी थी ! मेरे पिता कितने अच्छे थे ! मेरे पुत्र कितने आज्ञाकारी थे ! मेरा मित्र मेरे लिए सब-कुछ बलिदान करता था। मेरी सहेली मुझे कितना प्यार करती थी ! मेरा भवन कितना विशाल था ! आह, ये कहाँ चले गये ? क्यों चले गये ? क्या ये सम्बन्ध, ये रिश्ते, यह मित्रता, यह स्नेह, यह प्रेम, यह मोह-ममता इसीलिए था कि सदा के लिए जीवित को जलाते रहें ? नहीं; ये तो जलाने, वेदना उत्पन्न करने और तड़पाने के लिए नहीं थे। तू ही धोखा खा गया। तूने इन सबको स्थायी समझा। तूने इस भ्रम में अपने-आपको डाल दिया कि ये सारे सम्बन्ध, ये सारे वैभव,

यह धन, यह सम्पत्ति और यह सौन्दर्य सर्वदा बना रहेगा। तू इन्हीं को अपना देवता समझ बैठा और सार वस्तु की ओर ध्यान न दिया :

किस संग कीजे मित्रता, सब जग चालनहार।
निश्चल केवल है प्रभु, सब से करे प्यार ॥
धन यौवन यूँ जायगा, जा विधि उड़त कपूर।
नारायण गोविन्द भज, क्यों चाटे जग-धूर ॥

तो क्या ये सारे सम्बन्ध झूठे हैं ? कौन कहता है कि ये झूठे हैं ? झूठे तो नहीं; हैं तो ठीक, परन्तु सदा रहनेवाले नहीं। बस, यही बात समझ लेनी है। फिर संसार के सारे सम्बन्धों, सारे रिश्तों, सारे वैभवों, सारे कष्टों, सुखों, दुःखों के प्रति जो-जो कर्त्तव्य हैं, उन्हें पूरा करते हुए सार वस्तु को प्राप्त करने का यत्न करना है।

केनोपनिषद् का तथ्य

तथ्य की एक और बात केन-उपनिषद् के ऋषि ने बतलाई है, जिससे ज्ञात होता है कि मन तो भगवान् की अत्यन्त बहुमूल्य देन है। यह तो उसी का संकेत है, उसी का आदेश है। तब इसे बुरा क्या कहें और इससे भयभीत क्यों हों ? केनोपनिषद् के ये दो मन्त्र देखिये :

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा इतीति न्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ॥ ४ ॥
अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥ ५ ॥ (चतुर्थ खण्ड)

'उस ब्रह्म का यह आदेश है—संकेत है, जो यह विद्युत् का अकस्मात् चमकना है; वह आधिदैविक जगत् में उस ब्रह्म को बतलानेवाला साधन है' ॥ ४ ॥

'अब इस आध्यात्मिक जगत् (शरीर) में, जो यह चलता हुआ-सा मन है और इससे बार-बार संकल्प करना है, यह उसी का स्मरण कराता है' ॥ ५ ॥

गर्जते हुए मेघों में विद्युत् अपनी चमक-दमक दिखलाकर प्रभु का आदेश देती है और शरीर में चंचल मन भगवान् की याद दिलाता

है। जैसे विद्युत् एक अत्यन्त शक्तिशाली वस्तु है, ऐसे ही मन भी बड़ा शक्तिशाली अन्तः इन्द्रिय है। आप विद्युत् द्वारा संसारी जीवों के हितार्थ तथा कल्याणार्थ अनेकों कार्य सिद्ध कर सकते हैं, और इसी विद्युत् को मनुष्य-संहार के लिए भी प्रयोग में ला सकते हैं। ऐसे ही मन द्वारा आप मनुष्य-जीवन के परमोद्देश्य मोक्ष को भी प्राप्त कर सकते हैं, और इसी मन द्वारा मनुष्य-जीवन को बिगाड़कर गधे, कीट-पतंग, वृक्ष की योनियों में गिरा सकते हैं। मन एक शक्ति है, जिधर चाहो लगा लो।

बिजली और मन

विद्युत् चंचल है। मन उससे कहीं अधिक चंचल है। आकाश में विद्युत् की चमक देखी जाती है। मन की क्रिया तो इतनी तीव्र होती है कि इसका समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है। मेघों की विद्युत् से तो भौतिक विज्ञानी अभी कोई काम नहीं ले सके, हाँ, अपनी बुद्धि द्वारा जो विद्युत् उन्होंने उत्पन्न की है उससे कितने ही कार्य मनुष्य ले रहा है। बम्बई, कलकत्ता आदि नगरों में नीचे से ऊपर मकान की छठी-सातवीं छत पर जाना हो तो विद्युत् द्वारा आप बिना परिश्रम के पहुँच जाते हैं। यही विद्युत् पंखे चलाती है, बड़े-बड़े कारखानों में मशीनों को चलाती है और फिर आपके लिए अनेक वस्तुएँ तैयार करती है। रात्रि को सूर्य न होने पर दिन-जैसा प्रकाश कर देती हैं। बम्बई में तो रेलगाड़ियाँ भी यही धकेलकर ले जाती है। क्यों? विद्युत् को मनुष्य ने अपनी बुद्धि द्वारा बाँध दिया है और उसे अपनी दासी बनाकर उससे सारी सेवाएँ ले ली हैं।

मन तो विद्युत् से भी अधिक शक्ति तथा बलवाला है। यदि इसे भी बुद्धि द्वारा बाँध दिया जाय, तो कौन-सा आपका मनोरथ है, जिसे यह पूर्ण न कर देगा? परन्तु यह न भूल जाना कि यदि विद्युत् बेकाबू हो जाय, तो फिर वह बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ, विशाल भवन भस्मीभूत भी कर देती है; मनुष्य-शरीर को भी राख का ढेर बना देती है। इसी प्रकार विवश हुआ मन इससे भी अधिक हानि पहुँचा देता है। इतना शक्तिशाली मन यदि आपके अधीन हो जाय, तो भगवान् के

साक्षात् दर्शन तत्काल हो जाते हैं।

मन के सम्बन्ध में मुनि वसिष्ठ कहते हैं :

शास्त्रसत्संगधीरेण चिन्तातप्तमतापिना।
छिन्धि त्वमयसेनायसो मनसैव मनो मुने ॥ ५ ॥

'हे मुने ! आप चिन्ता-रूपी अग्नि में तपाये गए मन-रूपी लोहे को शास्त्राभ्यास और सत्संग से धीर तथा सन्तापरहित मन-रूपी लोहे के शस्त्र से काट डालिए।'

अयत्नेन यथा बाल इतश्चेतश्च योजते।
भावैस्तथैव चेतोऽन्तः किमिवाऽत्राऽस्ति दुष्करम् ॥ ६ ॥

योग वा०, उत्पत्ति प्र०, सर्ग १११ ॥

'जैसे बालक लाड-प्यार और भय से किसी प्रयत्न के बिना इधर-उधर जहाँ चाहो वहाँ लगाया जा सकता है, वैसे ही चित्त भी शम-दम आदि उपायों से जिधर चाहो उधर लगाया जा सकता है, इसलिए चित्त पर विजय प्राप्त करने में कौन-सी कठिनाई है !'

परन्तु शास्त्र पढ़ते और सत्संग करते वर्षों व्यतीत हो जाते हैं, फिर भी चित्त या मन भटकता ही रहता है। तब मन कैसे वश में हो ? यह भारी प्रश्न पुनः सामने आ जाता है। बाहर की तो किसी भी शक्ति का मन-पर अधिकार नहीं हो सकता; शरीर के अन्दर ही कोई ऐसा साधन तलाश करना होगा जो मन को वश कराने में सहायक हो सके।

प्राण की शक्ति

मनुष्य-शरीर में जीवात्मा के अतिरिक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन है। यह सब इन्द्रियों का कमाण्डर है। जीवात्मा बेचारा तो मन के जाल में फँसा हुआ है, अतएव न दस इन्द्रियाँ और न ही जीव मन को वश करने में सहायता देंगे। परन्तु इस सारी सेना के अतिरिक्त एक और वस्तु भी शरीर में है, जिसके बिना न जीवात्मा शरीर में रह सकता है, न ही मन कुछ कर सकता है, न ही इन्द्रियाँ। नेत्र देखने में भी अन्धे हो जाते हैं, कान भी छिद्र-मात्र रह जाते हैं। नासिका में चाहे जितना इत्र उँडेल दो वह सूँघ ही

नहीं सकेगी। रसना न खट्टा, न मीठा, न कड़वा, कुछ भी चख नहीं सकेगी जब वह शक्ति शरीर से बाहर हो जाएगी। इस शक्ति का नाम प्राण है। यह जो श्वास-प्रश्वास शरीर में आते-जाते हैं, जो न दिन को, न रात को, न जागृत् में, न स्वप्न में विश्राम करते हैं, चलते ही रहते हैं; गर्भकाल से लेकर तब तक चलते रहते हैं जब तक ये मृत्यु-समय शरीर से निकल नहीं जाते। इनका अपना और कोई विषय नहीं, कोई स्वार्थ नहीं। सारे शरीर में यदि कोई निष्काम सेवक है, दूसरों के लाभार्थ अनथक कार्य करनेवाला है तो वह प्राण ही है। इसीलिए प्राण को शरीर में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है :

छान्दोग्योपनिषद् में कहा है :

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ।। छान्दो० प्र० ५ । १ । १ ।।

छान्दोग्य के इसी स्थल पर यह सिद्ध करने के लिए कि प्राण सबसे मुख्य और सर्वश्रेष्ठ है, प्राण और इन्द्रियों के झगड़े की आख्यायिका लिखी है। क्या हुआ ? एक दिन इन्द्रियों में से वाणी, नेत्र, श्रोत्र इत्यादि ने यह दावा किया कि हम सबसे बड़े हैं; यह शरीर हमारे कारण से है। प्राण ने भी ऐसा ही कहा। अब इस झगड़े का निपटारा कैसे हो ? तब ये सब झगड़नेवाले प्रजापति के पास जा पहुँचे और कहा—हमारा फैसला करो कि हममें से श्रेष्ठ कौन है ?

प्रजापति ने उत्तर में कहा :

"यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते
स वः श्रेष्ठ इति ।। छान्दो० ५ । १ । ७ ।।

"अर्थात् तुममें से जिसके निकल जाने पर यह शरीर बहुत बुरा-सा दीखे, वह तुममें श्रेष्ठ है।"

इस फैसले को सुनकर वाणी शरीर से निकल गई, शरीर गूँगे की तरह जीवित रहा। नेत्र चले गए, शरीर अन्धे की तरह जीवित रहा। श्रोत्र गया, परन्तु शरीर बहरे की भाँति स्थिर रहा। मन चला गया, शरीर शिशुवत् जीवित रहा। परन्तु जब प्राण जाने लगे तो सारा शरीर मृतवत् होने लगा। तब सारी इन्द्रियों ने एकस्वर होकर प्राण से कहा :

भगवन्नेधि, त्वं नः श्रेष्ठोऽसि,
मोत्क्रमीरिति ॥ छान्दो० ५ । १ । १२ ॥

"भगवन् ! तुम ही हमारे स्वामी, तुम ही हममें से श्रेष्ठ हो, बाहर मत निकलो ।"

निस्सन्देह प्राण के आश्रय से ही ये सारे इन्द्रिय हैं और अन्तः इन्द्रिय मन भी उसी के आश्रय है। वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन इत्यादि इन्द्रियों की स्थिति प्राण ही के अधीन है। प्राण की शक्ति तो इतनी महान् है, मगर इसका अपना कोई स्वार्थ नहीं; अन्न मिलता चला जाय और यह चला जायगा, एक क्षण के लिए भी नहीं रुकेगा। हाँ, उस समय तक नहीं रुकेगा जब तक मृत्यु नहीं आ जाती।[1]

नारद और सनत्कुमार का संवाद

छान्दोग्य के सातवें प्रपाठक में प्राण की एक और भी अधिक तथा सुन्दर महिमा प्रकट की गई है। जब नारद सनत्कुमार के पास शिक्षा लेने के लिए पहुँचा तो सनत्कुमार ने उससे पूछा—"जो कुछ तुम जानते हो पहले मुझे बतलाओ, ताकि उससे आगे की शिक्षा दे सकूँ।"

इसके उत्तर में नारद ने कहा—"मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद पढ़ा हूँ। पुराण, व्याकरण, गणित-शास्त्र, उत्पत्ति-ज्ञान-शास्त्र, निरुक्त, शिक्षा, कल्प और छन्द पढ़ा हूँ। तर्क-शास्त्र, नीति-शास्त्र, भूत-विद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्प-विद्या, देवजन-विद्या, नृत्य, गान, शिल्प और विज्ञान पढ़ा हूँ।" जिसने इतना कुछ पढ़ लिया हो उसके लिए अब जानने योग्य शेष भला क्या रह जाता है? परन्तु नारद जी ने स्वयं ही यह रहस्य खोल दिया और कहने लगे—"हे भगवन् ! मैं केवल मन्त्रों को जानता हूँ, आत्मा को नहीं। (वेद ने भी तो यही कहा है—'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (जो उसे नहीं जानता, वह ऋचा से क्या करेगा?) और मुझे यह बतलाया गया है कि जो आत्मा को जान लेता है, वह शोक से परे हो जाता है। सो हे

---

१. अन्नं वै प्राणः=प्र+अन, अप+अन=अपान। अतएव अन्न से प्राण चलता है।

भगवन्! मैं शोक में हूँ। आप मुझे शोक से पार करें।"

तब सनत्कुमार ने कहा—"जो कुछ तुमने यह पढ़ा है, वह केवल नाम है। नाम ही यह सब-कुछ है जिसका नाम तुमने लिया है। यह सब नाम ही है; नाम को ही तुम उपासो। वह जो नाम को ब्रह्म के तौर पर उपासता है जहाँ तक नाम की पहुँच है, वहाँ तक इसकी इच्छानुसार होता है।"

नारद कहने लगा—"क्या नाम से बढ़कर कोई वस्तु है?" और जब सनत्कुमार ने कहा—"हाँ, नाम से बढ़कर है।" तब नारद ने कहा—"वह बतलाइये।"

सनत्कुमार ने कहा—"वाणी नाम से बढ़कर है। यह वाणी ही है जो वेद तथा दूसरी सारी विद्याओं तथा सारे तत्त्वों और वस्तुओं को जतलाती है। वाणी ही हमें सब-कुछ समझाती है। इस वाणी को उपासो।"

नारद ने पूछा—"वाणी से बढ़कर क्या है?"

सनत्कुमार बोले—"मन वाणी से बढ़कर है, क्योंकि मन के द्वारा वाणी तथा नाम अनुभव होता है; जब मन में कोई विचार आता है, तब कर्म करता है। आत्मा भी मन के साधन से भोग भोगता है। मन ही लोक की प्राप्ति का साधन है और मन ही ब्रह्म की प्राप्ति का साधन भी है।" नारद ने पूछा—"क्या मन से भी कोई बढ़कर है?" सनत्कुमार बोले—"हाँ, संकल्प मन से बढ़कर है, क्योंकि संकल्प के पश्चात् ही विचार आता है। मन से लेकर कर्म-पर्यन्त का संकल्प एक आश्रय (केन्द्र) है। द्यौ और पृथिवी मानो संकल्पवाले हैं। वायु और आकाश से भी संकल्प बड़े सामर्थ्यवाला है, सो तुम संकल्प को उपासो।" नारद जी ने कहा—"हे भगवन्! क्या संकल्प से बढ़कर भी कोई वस्तु है?" सनत्कुमार ने कहा—"हाँ, संकल्प से बढ़कर 'चित्त' है। जब कोई मनुष्य सोचता है, तब यह उस काम के करने या न करने का संकल्प करता है और फिर आगे प्रेरणा चलती है। चित्त ही सारे विचारों, संकल्पों, कर्मों का केन्द्र है। तुम चित्त को उपासो।" नारद बोले—"भगवन्! क्या चित्त से बढ़कर भी कोई वस्तु है?" सनत्कुमार

ने कहा—"हाँ, ध्यान चित्त से भी बढ़कर है। यह पृथिवी मानो ध्यान में लगी हुई है। यह अन्तरिक्ष, द्यौ, जल और पर्वत ध्यान में लगे हैं; देवता और मनुष्य भी। इसलिए वे लोग जो यहाँ मनुष्यों में से (धन, विद्या वा गुणों द्वारा) महत्त्व को प्राप्त होते हैं, तो वे ध्यान के फल का कुछ भाग लिये प्रतीत होते हैं। वे शान्त और गम्भीर नज़र आते हैं। सो तुम ध्यान को उपासो।" नारद बोले—"भगवन्! ध्यान से बढ़कर भी कुछ है?" सनत्कुमार ने कहा—"हाँ, विज्ञान ध्यान से बढ़कर है। विज्ञान द्वारा मनुष्य सारे वेदों तथा सारे भूतों और भौतिक ज्ञान को जानता है। जब वह किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करेगा, तभी उसपर ध्यान जमाया जायेगा। ध्यान से विज्ञान इसीलिए बढ़कर है। तुम विज्ञान की उपासना करो।" नारद बोले—"विज्ञान से बढ़कर भी कुछ है?" सनत्कुमार ने उत्तर दिया—"हाँ, बल विज्ञान से बढ़कर है। बलवाला एक व्यक्ति विज्ञानवाले सौ पुरुषों को कँपा देता है। बलवाला पुरुष उद्योगी बन जाता है; उद्योगी सबका प्यारा बनता है। बल से पृथिवी मर्यादा में खड़ी है। बल से मनुष्य, पशु, सब लोक खड़े हैं। सो तुम बल को उपासो।" नारद बोले—"महाराज! बल से भी कुछ बढ़कर है?" सनत्कुमार ने कहा—"हाँ, बल से अन्न बढ़कर है। बल अन्न से ही आता है। कुछ दिन कुछ न खाओ तो बल क्षीण हो जाता है। सो तुम अन्न को उपासो।" नारद बोले—"और क्या भगवन्! अन्न से बढ़कर भी कुछ है?" सनत्कुमार ने कहा—"हाँ, नारद, जल अन्न से बढ़कर है। जब अच्छी वृष्टि न हो तो अन्न पूरा नहीं होता। अन्न जल ही से होता है। सो तुम जल को उपासो।" नारद बोले—"जल से बढ़कर क्या है?" सनत्कुमार ने कहा—"तेज जल से बढ़कर है। जब गर्मी पड़ती है, तभी जल बरसता है। तेज जलों को रचता है। मेघ से पहले तेज बिजली के रूप में प्रकट होता है, सो तुम तेज को उपासो।" नारद बोले—"क्या भगवन्! तेज से बढ़कर भी कुछ है?" सनत्कुमार बोले—"हाँ, तेज से बढ़कर आकाश है। यह सूर्य, चन्द्र, बिजली, नक्षत्र, अग्नि, सब आकाश में स्थित हैं। आकाश के द्वारा मनुष्य बोलता है। बीज का अंकुर आकाश

की ओर उत्पन्न होता है, नीचे की ओर नहीं। सो तुम आकाश को उपासो।" नारद ने पूछा—"भगवन्! आकाश से बढ़कर भी क्या कुछ है?" सनत्कुमार बोले—"हाँ, स्मृति आकाश से बढ़कर है, क्योंकि यदि आकाश में शब्द हो और उसे स्मरण न रखा जा सके तो कोई भी व्यवहार न चले। जब शब्द स्मरण रखे जा सकते हैं, तभी हम जान सकते, मान सकते और कुछ कर सकते हैं। स्मृति द्वारा ही पुत्रों को, पशुओं को, और एक-दूसरे को लोग जानते हैं। सो तुम स्मृति को उपासो।" नारद बोले—"स्मृति से बढ़कर क्या है?" सनत्कुमार ने कहा—"आशा स्मृति से बढ़कर है। आशा से चमकी हुई स्मृति मन्त्रों को पढ़ती है, कर्म (यज्ञादि) करती है। पुत्र वा पशुओं की इच्छा करती है। इस लोक तथा उस लोक को चाहती है। सो तुम आशा को उपासो।" नारद बोले—"आशा से बढ़कर भी कुछ है?" सनत्कुमार ने उत्तर दिया—"हाँ, आशा से बढ़कर प्राण है। जैसे रथ की नाभि में अरे पिरोये होते हैं, इसी प्रकार यह सब (नाम से लेकर आशा-पर्यन्त) इस प्राण में पिरोया हुआ है। प्राण प्राण से चलता है। प्राण पिता है, प्राण माता है, प्राण भ्राता और बहिन है। यही आचार्य है। प्राण ब्राह्मण है, क्योंकि यदि कोई मनुष्य माता-पिता, भाई-बहिन या आचार्य को कुछ अनुचित-सा कह दे तो लोग उसे धिक्कारते हैं कि तूने पिता की या माता की या भगिनी, भाई, आचार्य की हत्या कर दी है। तूने ब्राह्मण-हत्या कर दी। परन्तु जब उसके प्राण निकल जाते हैं तब चाहे कोई उन्हें जला दे, तब उसे कोई नहीं कहेगा कि तूने पिता, माता, भाई, आचार्य या ब्राह्मण की हत्या की है। इसलिए प्राण ही ये सब माता-पिता इत्यादि हैं। यह सारा जंगम-स्थावर जो कुछ है, सब प्राण है।"

बस, इसके पश्चात् नारद ने आगे प्रश्न नहीं पूछा। प्राण पर पहुँचकर वह सन्तुष्ट हो गया। नाम से लेकर वाणी, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मृति, आशा, प्राण को सनत्कुमार जी ने क्रमानुसार अधिक बलवान् तथा श्रेष्ठ बतलाया। निस्सन्देह सारी चेष्टाएँ प्राण द्वारा होती हैं। सारा चराचर प्राण ही

के अधीन है और नारद प्राण की बात सुनकर सन्तुष्ट भी हो गया; परन्तु यह सारा व्याख्यान तो भौतिक पदार्थों का है। नारद ने आत्मा की बात पूछी थी, इसीलिए सनत्कुमार ने जब देखा कि नारद अब आगे प्रश्न नहीं करता तो स्वयं सनत्कुमार जी कहने लगे कि 'वस्तुतः सत्य (ब्रह्म) को सबसे बढ़कर समझना चाहिए।' परन्तु आत्मा को छोड़कर संसार की सारी अनात्म शक्तियों में प्राण ही सबसे बढ़कर है। इतनी महान् शक्तिशाली वस्तु मनुष्य-शरीर में है और यही शक्ति आपके उद्देश्य को पूर्ण करने में सहायक हो सकती है। हाँ, यह तभी सहायक हो सकती है, यदि आप इससे तत्त्व तक पहुँचने का काम लेना चाहें। इस शक्तिशाली प्राण को प्रश्नोपनिषद् में जीवात्मा का पिता कहा गया है। जब प्राण निकलने लगे तो इन्द्रियों ने प्राण से कहा— मत निकल।

पिता त्वं मातरश्विनः। प्र० २। ११॥

'तू जीवात्मा का पिता है।'[1]

यही एक प्राण है, जिसपर विश्वास हो सकता है कि यह मन को वश में करने में सहायक हो सकेगा, क्योंकि यह न तो किसी इन्द्रिय के अधीन है, न ही आत्मा या मन के, और यह निष्काम सेवक है। जब देवताओं तथा असुरों ने एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने के यत्न आरम्भ किए तो असुरों ने लगभग प्रत्येक युद्धस्थल में देवताओं को पराजित कर दिया। अन्त में देवताओं ने शरीर में प्राण ही का आश्रय लिया और वहाँ असुरों की पराजय हुई। यह कथा धार्मिक वृत्तियों तथा पाप-वृत्तियों के संघर्ष का वर्णन करती है। छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक १, खण्ड २ में यह कथा इस प्रकार है :

"देवता (धार्मिक वृत्तियाँ) और असुर (पाप की वृत्तियाँ) जो दोनों प्रजापति (मनुष्य) की सन्तान हैं, ये जब आपस में एक-दूसरे पर विजय पाने के प्रयत्न में लगे, तो देवताओं ने उद्गीथ (ओम्) को

१. प्राणः प्रजा अन वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् (अथर्व० ११। ४। १०) वेद में भी प्राण को पिता-तुल्य बतलाया है।

ग्रहण किया कि इससे हम इन असुरों को दबा लेंगे। (१) उन्होंने (देवताओं ने) नासिका में होनेवाले प्राण (घ्राण) की दृष्टि में ओम् की उपासना की। उस घ्राण को असुरों ने पाप से बींध दिया, इसीलिए उस घ्राण से मनुष्य दोनों को सूँघता है—सुगन्ध भी और दुर्गन्ध भी, क्योंकि यह घ्राण पाप से बींधा हुआ है। पाप का फल केवल दुर्गन्ध है। घ्राण यदि पाप से न बींधा जाता तो वह केवल सुगन्ध ही लेता क्योंकि घ्राण की अपनी आसक्ति सुगन्ध ही में है, यही इसका स्वार्थ है। स्वार्थी होने के कारण यह पाप से बींधा गया और दुर्गन्ध भी इसके पल्ले पड़ गई। उधर देवताओं को इस मैदान से भागना पड़ा। (२) तब उन्होंने (देवताओं ने) वाणी की दृष्टि से ओम् की उपासना की, परन्तु असुरों ने उसको भी पाप से बींध दिया। इसीलिए मनुष्य इससे दोनों बातें बोलता है—सत्य भी, झूठ भी, क्योंकि वाणी पाप से बींधी हुई है। (३) तब उन्होंने आँख की दृष्टि से ओम् को उपासा, पर असुरों ने आँख को भी पाप से बींध दिया। इसीलिए मनुष्य इससे दोनों बातें देखता है—देखने योग्य और न देखने योग्य। (४) तब उन्होंने श्रोत्र की दृष्टि से ओम् की उपासना की, पर असुरों ने इसको भी पाप से बींध दिया। इसीलिए मनुष्य कान से दोनों बातें सुनता है—सुनने योग्य और न सुनने योग्य; पाप में बिंध जाने के कारण। (५) तब उन्होंने मन की दृष्टि से ओम् की उपासना की, पर असुरों ने मन को भी पाप से बींध दिया। इसीलिए मनुष्य उससे दोनों बातें सोचता है—सोचने योग्य और न सोचने योग्य, क्योंकि मन पाप से बींधा हुआ है। (६) (इन सब स्थानों से देवता पराजित होकर अब प्राण की शरण में जाते हैं।)

"अब यह जो मुख्य प्राण है इसकी दृष्टि से देवताओं ने ओम् की उपासना की। जब असुर उस प्राण के स्थल में पहुँचे तो असुर इस तरह तितर-बितर हुए जैसे एक मिट्टी का ढेला किसी कठोर पत्थर पर लगकर चूर-चूर हो जाता है। यह जो मुख में प्राण है, इससे मनुष्य न तो सुगन्ध जानता है, न ही दुर्गन्ध, क्योंकि यह प्राण पाप से बचा हुआ है। इससे मनुष्य जो कुछ खाता है और जो पीता है, उससे दूसरे

प्राणों (इन्द्रियों) की रक्षा होती है।"

निःस्वार्थ सेवक

सारी इन्द्रियाँ मन-सहित स्वार्थपरायण हैं; केवल प्राण ही परार्थी है। प्राण दूसरों के लिए चलता है, दूसरों के लिए खाता है और दूसरों के लिए पीता है।

जिस प्रकार सूर्य ब्रह्माण्ड में बिना स्वार्थ के सबको गर्मी तथा प्रकाश देता है, असुरों को भी और देवताओं को भी, पुण्यात्माओं को भी और पापियों को भी; इसी सूर्य के प्रकाश में संसार के अच्छे और बुरे सब काम होते हैं; परन्तु सूर्य किसी में लिप्त नहीं होता, अलिप्त-शुद्ध रहकर निष्काम भावना से विचरता है; इसी प्रकार यह प्राण मनुष्य-शरीर में सूर्यवत् सब कार्य करता है। जब प्राण इतना बड़ा निष्काम सेवक, परमार्थी और परोपकारी है तो क्या यह हमारे ही काम नहीं आएगा? आएगा और अवश्य आएगा। इतिहास बतलाता है कि जिन्होंने प्राण को अपनाया और इसके द्वारा मन पर विजय प्राप्त करने का यत्न किया, वे इसमें पूर्ण सफल हुए—अंगिरस् और बृहस्पति, अयास्य और दालभ्य के नाम तो छान्दोग्य-उपनिषद् ही में हैं।

अब आपने एक निःस्वार्थ सच्चे सहायक की खोज तो कर ली, परन्तु प्राण किस प्रकार से चित्त या मन की वृत्तियों का नाश करने में सहायता दे सकेगा, यह अभी निश्चय करना है।

हठयोग प्रदीपिका ४।२२ में यह अनुभव बतलाया है कि :

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः॥

'चित्त की प्रवृत्ति में दो हेतु हैं—एक तो वासना अर्थात् भावना नाम का संस्कार और दूसरा प्राण-वायु। वासना और प्राण-वायु इन दोनों में से एक के नष्ट होने पर वे दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।'

मन तथा प्राण का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक को रोक लें तो दूसरा भी उनके ही साथ रुकने लगता है। यह विख्यात

भी है :

चले वाते चलं चित्तम् ।

'प्राण-वायु के चलायमान होने से चित्त भी चलायमान हो जाता है।' महारामायण में भी कहा है कि 'प्राण की क्रिया और वासना ये दोनों चित्त के बीज हैं।'

प्राण के सम्बन्ध में अनुभवियों ने बतलाया है कि हमारे दिल में दिन-रात के २४ घण्टों में एक लाख १३ हज़ार छः सौ अस्सी बार धड़कन होती है, अर्थात् एक मिनट में लगभग ८० बार। श्वास-प्रश्वास धड़कन की अपेक्षा आधे से कम चलते हैं, परन्तु धड़कन का व्यापार प्राण के बिना नहीं होता। अब जब तक यह गति रुकती नहीं, तब तक मन भी नहीं रुक सकेगा।

योगवासिष्ठ, उपशम प्रकरण, सर्ग ७८ में लिखा है :

चित्तं प्राणपरिस्पन्दमाहुरागमभूषणः ।
तस्मिन् संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः ॥ १५ ॥

'चित्त का परिस्पन्दन (मन की गति) प्राण-परिस्पन्दन के अधीन है, अतः प्राण का निरोध करने पर मन अवश्य उपशान्त (निरुद्ध) हो जाता है।'

'प्रबोध सुधाकर' का यह वचन भी विचारणीय है :

अद्वारतुङ्गकुड्ये गृहेऽवरुद्धो यथा व्याघ्रः ।
बहुनिर्गमप्रयत्नैः श्रान्तस्तिष्ठति पतङ्श्वसंश्च तथा ॥ ७५ ॥
सर्वेन्द्रियावरोधादुद्योगशतैरनिर्गमं वीक्ष्य ।
शान्तं तिष्ठति चेतो निरुद्यमत्वं तदा याति ॥ ७६ ॥
प्राणस्पन्दनिरोधात्संगाद्वासनात्यागात् ।
हरिचरणभक्तियोगान्मनः स्ववेगं जहाति शनैः ॥ ७७ ॥

'द्वार से रहित, ऊँची दीवारवाले घर में, जिस सिंह को बन्द कर दिया गया है, वह बाहर निकलने के बहुत यत्न करने से थक गया है, वह हाँफते हुए गिर पड़ता है। ऐसे ही मन सब इन्द्रियों के बन्द करने से, अनेक उद्योगों से विषयों की ओर जाने का मार्ग न देखकर शान्त हो

जाता है और बाहर भागने के उद्यम को छोड़ देता है ।।७५-७६।। प्राणों की गति के रोक देने से, वासनाओं के त्याग से, प्रभु के चरणों में भक्तियोग से मन अपने वेग को शनैः-शनैःछोड़ देता है ।।७७।।

प्राण तथा मन का निरोध

प्राण तथा मन के निरोध के लिए दो मुख्य साधन हैं —(१) प्राणायाम, और (२) ध्यान। हठयोग में प्राणायाम पर अधिक बल दिया जाता है और राजयोग में प्राणायाम के साथ ध्यान पर भी बल दिया जाता है। परन्तु दोनों प्रकार के साधनों के लिए एक ही आसन पर अडोल चिरकाल तक बैठने का अभ्यास अनिवार्य है। जब तक एक ही आसन पर ग्रीवा और पीठ सम रखकर तीन-चार घण्टे तक बिना कष्ट के बैठने का अभ्यास नहीं हो जाता, तब तक न तो प्राणायाम सफल हो सकता है, न ही ध्यान-अवस्था में प्राण और मन का निरोध हो सकता है। अतएव सबसे पूर्व एक आसन में निश्चल-अडोल बैठने का अभ्यास करना चाहिए। परन्तु जिसकी शारीरिक अवस्था अच्छी नहीं, जो रोगी रहता है, उसे अपना स्वास्थ्य सुधारने का यत्न करना होगा और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने खान-पान, स्वभाव तथा व्यवहार को नियमित करना होगा। जो जिह्वा के स्वादाधीन ऐसे पदार्थ खा जाता है जो उसके उदर में नाना व्याधियाँ उत्पन्न कर देते हैं, वह व्यक्ति इस मार्ग पर तो क्या चलेगा, उसके जीवन के तो दूसरे व्यवहार भी नीरस हो जायेंगे।

: ३ :

शरीर के तीन उपस्तम्भ

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यह जान लेना लाभदायक होगा कि इसका आधार क्या है ?

चरक सूत्रस्थान के अध्याय ११ का ३२वाँ वाक्य यह है :

अथ उपस्तम्भा इत्याहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्य्यमिति—एभिस्त्रिभिः-युक्तयुक्तैरुपस्तब्धमुपस्तंभैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितं मनः वर्त्तते यावदायुषः संस्कारात् ॥

'आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य, ये शरीर के तीन उपस्तम्भ (खम्भे) हैं। इन तीनों के ठीक सेवन से शरीर में बल बना रहता है, वर्ण की वृद्धि होती रहती है; और इनके अनुचित व्यवहार से आयु की हानि करनेवाले रोग पैदा होते हैं।'

आहार

आहार पर बहुत-कुछ निर्भर है। धन्वन्तरि जी कहते हैं :

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसाम् ॥ सूत्रस्थान १।५८॥

'समस्त जीवों और उनके बल-रूप ओजादि का मूल आहार है।' यदि आहार युक्त तथा पौष्टिक नहीं होगा तो न पूरी निद्रा मिलेगी, न ही ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करने की शक्ति आयेगी। यह रहस्य सर्वदा अपने समक्ष रखना चाहिए कि आहार स्वाद के लिए नहीं, अपितु शरीर-रक्षा तथा शारीरिक और मानसिक बल के लिए है। जो लोग अधिक लाल मिर्चों का या अति खटाई का प्रयोग करते हैं या जिनको अधिक चटपटी वस्तुओं के बिना भोजन रुचिकर प्रतीत ही नहीं होता, वे कभी एकान्त में बैठकर विचार करें तो उनपर प्रकट हो जायेगा कि इस प्रकार की वस्तुओं से उनकी हानि ही हुई है। स्वादाधीन होकर भूख से अधिक खा लेना और फिर चटोरापन के

दास होकर पेट में ऐसी वस्तुएँ पहुँचा देना, पेट के कारखाने को बिगाड़ देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? उदर को तो भूखा-सा ही रखना चाहिये। पेट अमीर के स्थान पर फ़कीर ही अच्छा। जितना हम इसे अधिक भरेंगे, यह उतना अधिक हमारे शरीर को रोगी रखेगा।

स्वाद बाहर की वस्तु नहीं, अन्दर की देन है। जब पूरी क्षुधा लगी हो तो भुने हुए चने और सत्तू भी वह स्वाद देते हैं कि उनके सामने सब पदार्थ तुच्छ हो जाते हैं; और यदि पेट में विकार हो, क्षुधा उड़ चुकी हो तो स्वादु-से-स्वादु पदार्थ भी अस्वादु प्रतीत होते हैं।

स्वाद के पीछे

जिह्वा (रसेन्द्रिय) दो कामों के लिए मिली थी—(१) एक तो इसलिए ताकि हम अपने विचार प्रकट कर सकें और प्रभु-भजन भी कर सकें; (२) दूसरे, यह जिह्वा हमें आहार के सम्बन्ध में बतला सके कि यह सड़ा-गला तो नहीं ? खाने योग्य तो है ? परन्तु हमने जिह्वा का दुरुपयोग प्रारम्भ कर दिया, चटपटी वस्तुओं के पीछे भागने लगे, जिससे मन भी बिगड़ा और शरीर भी। केवल जिह्वा के स्वाद को पूरा करने के लिए आप देखिये तो सही, मनुष्य को क्या-कुछ करना पड़ रहा है ! इसका प्रयोजन यह नहीं कि हम अस्वादु भोजन खाना शुरू कर दें; अपितु प्रयोजन यह है कि जिह्वा के स्वाद के पीछे इतने पागल न हो जायँ कि जिह्वा की ही माँगें पूरी करने में लगे रहें। इस जिह्वा ही के कारण पशु-पक्षियों का वध आरम्भ हुआ और आधुनिक काल की दुनिया के बहुत-से देश इसी रोग में ग्रस्त हैं। सहस्रों, लक्षों, अरबों पशु-पक्षी प्रतिदिन जिह्वा के स्वाद के लिए मारे-काटे जाते हैं। करोड़ों मनुष्य दूसरों के जिह्वा-स्वाद ही पूरा करने के धन्धे में लगे हुए हैं। देवियाँ दिन-रात इसी चिन्ता में रहती हैं कि अधिक स्वादु भोजन कैसे बनाया जाय ?

ज्ञानेन्द्रियों में जिह्वा और कर्मेन्द्रियों में उपस्थ या गुप्तेन्द्रिय—इन दो इन्द्रियों को विशेष रूप से जिसने अपने वश में नहीं किया, वह प्रभु-दर्शन (मोक्ष) का स्वप्न भी नहीं ले सकता। और आज दुनिया बहुधा इन्हीं दो इन्द्रियों के जाल में बुरी तरह फँसी हुई है। जिस

साधु, संन्यासी, महात्मा को इन इन्द्रियों की तुष्टि की चिन्ता घेरे रखती है, वह तो इस आश्रम का अधिकारी ही नहीं समझा जाता।

इन्द्रियाणि जयन्त्यासु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेन्द्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥

'विद्वान् निराहार रहकर और रसेन्द्रिय को छोड़कर इन्द्रियों को शीघ्र जीत लेते हैं, किन्तु निरन्न पुरुष का (जिसने अन्न छोड़ रखा है) रसेन्द्रिय बढ़ता है। पुरुष दूसरे इन्द्रियों को जीतकर भी तब तक जितेन्द्रिय नहीं होता, जब तक रसेन्द्रिय को नहीं जीत लेता। इसके जीत लेने से सबपर विजय प्राप्त हो जाती है।'

इतना बड़ा महत्त्व रसेन्द्रिय का है। बुद्धिपूर्वक ही अपने इस इन्द्रिय से कार्य लेना होगा। बुद्धि की जब भी उपेक्षा करके इसकी अतिस्वाद की लालसा पूरी करने की ओर झुकेंगे, तभी नाना रोग और पापों को निमन्त्रण दे दिया जायेगा।

भोजन में क्या हो ?

एक मनुष्य के भोजन में क्या-कुछ चाहिये, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है; क्योंकि मनुष्यों की प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं, स्वभाव भी पृथक्-पृथक् हैं। जो पित्त-प्रधान प्रकृति का व्यक्ति है, उसके लिए शीतल गुण रखनेवाले खाद्य पदार्थ अधिक उपयोगी होते हैं; परन्तु वात-प्रधान प्रकृतिवाला यदि ठण्डी या रूक्ष वस्तुओं का प्रयोग करेगा तो शरीर के सन्धिस्थानों में पीड़ा-ही-पीड़ा होने लगेगी और वायु-सम्बन्धी नाना रोग घेर लेंगे। अतएव देख लीजिये कि आपके लिए कौन-से खाद्य पदार्थ अनुकूल और कौन-से प्रतिकूल हैं। बुद्धिपूर्वक फिर उनका प्रयोग कीजिये।

चरक सूत्रस्थान, अध्याय पाँच में भोजन के सम्बन्ध में यह लिखा है :

षष्टिकान् शालिमुद्गांश्च सैन्धवामलके यवान्।
आन्तरीक्षं पयः सर्पिर्जाङ्गलं मधु चाभ्यसेत्॥५॥

तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्त्तते ।
अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरञ्च यत् ।।६।।

'साठी के चावल, शाली चावल, मूंग, सेंधा नमक, आँवले, गेहूँ, आकाश (वर्षा) का जल, दूध-घी, शहद, इनका नित्य सेवन करें। देह की स्वस्थावस्था को जो द्रव्य न बिगाड़े और रोगों को उत्पन्न न करे, वह पदार्थ खाना चाहिए ।'

रोगों का कारण

भगवान् ने मानव-शरीर रोगी होने के लिए नहीं दिया है अपितु इसके द्वारा प्रभु के निकट पहुँचने के लिए दिया है। इसको रोगी अथवा स्वस्थ रखना हमारी बुद्धि के आधीन है । आयुर्वेद के शास्त्र में यही कहा है कि, "सारे रोगों का मूल-कारण प्रज्ञा का बिगड़ना है ।" जो व्यक्ति इस बात को समक्ष रखे बिना कि कौन-से खाद्य पदार्थ मेरे अनुकूल और कौन-से प्रतिकूल हैं, भोजन करते हैं वे बुद्धि से काम नहीं लेते; या जिनकी बुद्धि ही भ्रान्त हो गई है, या रजोगुण तथा तमोगुण से अत्यन्त स्वादु प्रतीत होता है परन्तु शरीर को रोगी बनाने लगता है; और प्रज्ञा के अपराध से रोग ही नहीं आते, अपितु सर्वनाश होने लगता है । चरक शरीरस्थान अध्याय १ में लिखा है :

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्व दोष प्रकोपकम् ।। १०१ ।।

'बुद्धि, घृति और स्मृति के नष्ट होने से यह मनुष्य जिन अशुभ कर्मों को करता है उसको प्रज्ञापराध अर्थात् बुद्धि का दोष कहते हैं ।'

आहार के सम्बन्ध में यदि प्रज्ञा ठीक पथ-प्रदर्शन नहीं करती तो भारी हानि होने का भय है । आहार शुद्ध और यथार्थ न होने से केवल शरीर ही नहीं बिगड़ता, अपितु मनुष्य-जीवन के ऊँचे उद्देश्य ही का अन्त हो जाता है; क्योंकि आहार ही मोक्ष की आधार-शिला है । छान्दोग्योपनिषद् के सातवें प्रपाठक के २६वें खण्ड का अन्तिम आदेश यह है :

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।।

'जब मनुष्य का आहार शुद्ध हो जाता है तो उसका (सत्त्व) अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तो स्मृति अटल हो जाती है और फिर (भूमा-आत्मा की) स्मृति पक्की हो जाती है, तब सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।'

यहाँ आहार से जहाँ जिह्वा का आहार अभिप्रेत है, वहाँ सारी ही इन्द्रियों के आहार का भी संकेत है। जहाँ भोजन नेक कमाई का और अधिक सात्त्विक हो, वहाँ नेत्र, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियों के जो आहार हैं वे भी शुद्ध होने चाहियें अर्थात् राग-द्वेष से रहित होकर सब इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करना ही आहार की शुद्धि है।

अतएव आहार के सम्बन्ध में पूरा सावधान होना चाहिये और यदि अपनी बुद्धि ठीक मार्ग नहीं दिखला सकती तो फिर आहार के सम्बन्ध में दूसरों से आदेश लेना चाहिये[1]। मेरा अनुभव यह है कि भोजन में ये पदार्थ आवश्यक हैं—गेहूँ का मोटा आटा, घी, दाल अथवा शाक या दोनों, दूध-दही, चावल, गुड़ या चीनी, बाजरा यदि अनुकूल हो, कुछ फल। भोजन के साथ या तो एक दाल होनी चाहिये या एक शाक। जो लोग पाँच-पाँच सात-सात या इनसे भी अधिक व्यञ्जन प्रयोग में लाते हैं, उनके उदर में जाकर वे व्यञ्जन ऊधम मचाना आरम्भ कर देते हैं। हाँ, घी, दूध, दही का पर्याप्त मात्रा में सेवन करना चाहिये। आजकल जो नाना प्रकार के नकली घी बने हैं, उनको यदि तेल ही के रूप में रहने दिया जाता तो वे कुछ लाभदायक होते, परन्तु काग को हंस का वेष पहनाने के लिए (ऐसा कथन किया जाता है) इन तेलों में हानि पहुँचानेवाले नाना रासायनिक द्रव्य प्रयोग में लाकर घी का रूप दिया जाता है। कितने ही वैज्ञानिकों ने पहले यह बताया था कि ऐसे बने या बिगड़े हुए तेल मनुष्य-शरीर के लिए हितकर नहीं हैं; मनुष्य यदि इनका प्रयोग करता रहा तो वह अपने

---

१. कविराज श्री हरनामदास जी बी०ए०, मन्दिर गौरीशंकर, चाँदनी चौक, दिल्ली ने आहार के सम्बन्ध में पूरे अनुसन्धान से बड़े उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं, उनके द्वारा आपको आहार के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश मिल सकता है।

लिए रोगों, दुःखों, और भयंकर परिणामों का एक नया क्षेत्र खोल लेगा। जितना धन नकली घी के तैयार करने में व्यय हो रहा है, यदि यही धन गोवंश की वृद्धि में व्यय किया जाय तो आर्थिक तथा शारीरिक और आत्मिक तीनों लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। परन्तु गोवंश की वृद्धि की ओर ध्यान देने के स्थान पर यहाँ तो मुर्गा-(कुक्कुट)-प्रदर्शनी तथा कुत्ता-(कुक्कुर)-प्रदर्शनी हो रही है। मानव के ये पतन ही के चिह्न हैं।

गोघृत रसायन है

गाय का दूध और गाय का घी तो रसायन हैं। गोघृत में विषों के नाश करने की शक्ति है। यदि सर्प डस ले तो गोघृत-पान से विष का बड़ा भाग नष्ट हो जाता है। भैंस के घृत में इतना अधिक गुण नहीं है और नकली घी तो उलटा विष उत्पन्न कर देता है।

गोदुग्ध के सम्बन्ध में देखिये 'सुश्रुत' के कर्त्ता श्री धन्वन्तरि जी क्या कहते हैं :

गोक्षीरमनभिष्यन्दी स्निग्धं गुरुरसायनम् ।
रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयोः ॥
जीवनीयं तथा वातपित्तघ्नं परमं स्मृतम् ॥

सूत्रस्थान अ० ५५ । श्लो० ४ । ६ ॥

'गौ का दूध अभिष्यन्दी नहीं (रसवहा नाड़ियों को नहीं रोकता), स्निग्ध है, भारी रसायन है, रक्तपित्त दूर करता है, शीतल है, रस में और विपाक में मीठा है, जीवनदाता है। वायु और पित्त को शान्त करनेवाला है।'

ऐसा जीवनदाता, रसायन, विषनाशक गोदुग्ध और गोघृत छोड़कर आज भैंसों, कुत्तों और मुर्गों ही की पालना हो रही है।

वेद में गो-महिमा

गोदुग्ध की प्रशंसा वेद भगवान् ने स्थल-स्थल पर की है और गौ के समान और कोई संसारी वस्तु नहीं बतलाई। यजुर्वेद के २३वें अध्याय के ४७वें मन्त्र में एक प्रश्न है :

"कस्य मात्रा न विद्यते ?"

'किसके समान कोई वस्तु नहीं?' तो इसका उत्तर भगवान् ने ४८वें मन्त्र में यह दिया कि :

"गोस्तु मात्रा न विद्यते।"

'संसार में गौ के समान कोई वस्तु नहीं।' और गोदुग्ध के लिए कितनी सुन्दर प्रार्थना है :

"महीनां पयोऽसि, वर्चोदा असि वर्चो मे देहि।"

'तू गौओं का दूध हैं, शरीर में कान्ति देनेवाला है, मेरे शरीर को भी कान्ति प्रदान कर!'

अथर्ववेद (१० । १० । ३४) में तो वंशा गौ के भरोसे ही देवताओं और मनुष्यों का जीवन चलता है। अथर्ववेद के पहले काण्ड के २२वें सूक्त में हृदय-रोग की चिकित्सा का वर्णन है जो रोग आज तीव्रता से बढ़ रहा है। वहाँ लिखा है कि लाल रंग की गौओं के दूध से हृदय और पाण्डु रोग दूर होते हैं।

गोदुग्ध को इतना हितकर समझकर ही सनातन वैदिक संस्कृति के चार स्तम्भों में एक स्तम्भ 'गौ-वंश की वृद्धि' है। जब से गौ-वंश का ह्रास होने लगा है, तब से नाना रोग और दुःख बढ़ गये हैं।

शरीर को स्वस्थ और सुन्दर बनाये रखने के लिए गोदुग्ध का प्रबन्ध अवश्य कर लीजिये और फिर देखिये कि आपके लिए क्या हितकर है। अपनी प्रकृति के अनुकूल खाद्य पदार्थों को चुनने के अतिरिक्त आहार के सम्बन्ध में एक अत्यन्त आवश्यक रहस्य समझ लेना चाहिये और वह यह कि स्वस्थ अवस्था में जब मन खिन्न हो या चन्द्र-स्वर चलता हो तो भोजन उदर में विकार उत्पन्न कर देता है।

भोजन-सेवन करते समय मन प्रसन्न होना चाहिए। उस समय चिन्ता की बात मन में न लानी चाहिये, न श्रवण करनी चाहिये, अपितु हास्य-रस की बात होनी चाहिए।

मन को प्रसन्न रखने से स्वास्थ्य

वैसे तो मन को किसी भी समय चिन्ता, क्रोध, पश्चात्ताप, घृणा इत्यादि के दलदल में फँसने नहीं देना चाहिये, क्योंकि ये मानसिक विकार शरीर की नाड़ियों में भारी विक्षोभ उत्पन्न कर देते हैं और

रक्त को विषैला बना देते हैं, परन्तु भोजन के समय तो मन का प्रसन्न होना सर्वथा आवश्यक है।

प्रोफैसर गेट्स ने इसके सम्बन्ध में जो वैज्ञानिक प्रयोग किये हैं, वे बड़े लाभदायक हैं। प्रोफैसर गेट्स ने मनुष्य की भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाओं में निकलनेवाले श्वासों की वायु को लेकर हिम द्वारा शीतल की हुई नलियों में एकत्र किया और यह बतलाया कि मनुष्य जब नॉर्मल (साधारण) अवस्था में हो, मन को कोई असाधारण विकार न हो तो उन श्वासों द्वारा रंगहीन द्रव इकट्ठा होता है; और यदि मन क्रोध की अवस्था में हो तो इस द्रव का रंग भूरा-सा होता है; दुःख की अवस्था में खाकी, पश्चात्ताप की अवस्था में गुलाबी रंग होता है और ये पदार्थ इतने विषैले सिद्ध हुए कि सूअर के बच्चे को इनका टीका लगाने पर वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। घृणा तथा क्रोध की अवस्था में एक घण्टे में मनुष्य के श्वास द्वारा इतना विषैला द्रव निकलता है कि उससे बीस व्यक्ति मर सकते हैं। इसके विपरीत आनन्द, उत्साह, प्रेम, प्रसन्नता की अवस्था में श्वास द्वारा जो द्रव निकलता है, वह बड़ा शक्ति देनेवाला होता है।

प्रोफैसर गेट्स के इस कथन से सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाएँ मानव-स्वास्थ्य पर कितना गम्भीर प्रभाव डालती हैं। अतएव प्रथम तो क्रोध, घृणा, चिन्ता, सन्ताप इत्यादि से सर्वदा ही बचना चाहिए, परन्तु भोजन के समय तो अवश्यमेव इनको दूर धकेल देना चाहिए। अन्यथा ये भोजन में विष डाल देंगे।

भोजन-समय स्वर

भोजन के समय स्वर का ध्यान रखना भी लाभदायक है। जब चन्द्र-स्वर (वाम नासिका से वायु) चल रहा हो तो जठराग्नि मन्द होती है, और भोजन करना चाहिए तीव्र अग्नि में। अन्न पचानेवाली अग्नि तब प्रचण्ड होती है जब सूर्य-स्वर वेग से चलता हो। अतएव भोजन करने से पूर्व देख लीजिये कि सूर्य-स्वर चलता है या नहीं। यदि न चलता हो तो चला लीजिए। इसकी विधि यह है कि वामकुक्षि में अपने दक्षिण हाथ की मुट्ठी रखकर कुक्षि को ज़ोर से दबायें या

वाम ओर लेट जायें। तब सूर्य-स्वर चलने लगेगा। आहार के सम्बन्ध में ये कुछ बातें ध्यान में रखने से शरीर नीरोग रहेगा और दृढ़ आसन लगाने के योग्य बन जायेगा।

आहार में छः रस

आहार के सम्बन्ध में एक और तत्त्व की बात लिख देना आवश्यक है और वह छः रसों के सम्बन्ध में है। 'चरक-संहिता' के विमानस्थान के पहले अध्याय में बतलाया गया है कि :

"रस—मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय, ये छः हैं। वे भली प्रकार उपयोग को प्राप्त हुए शरीर की पालना करते हैं और उल्टे उपयोग से दोषों को बढ़ाते हैं। दोष तीन हैं—वात, पित्त और श्लेष्मा। ये ठीक हों तो शरीर के उपकारक होते हैं और विकार को प्राप्त हुए हों तो निश्चय से नाना प्रकार के विकारों से शरीर को दुःखित करते हैं।"

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा—

कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति। कटुकाम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधरतिक्तकषायाः पुनरेनं शमयन्ति। मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति ।। ४ ।। विमानस्थान पहला अध्याय ।।

उसमें से एक-एक दोष को तीन-तीन रस पैदा करते हैं और तीन-तीन उपशमन करते हैं। वे इस प्रकार से हैं :

कटु, तिक्त, कषाय—वात को पैदा करते हैं।
मधुर, अम्ल, लवण—वात का शमन करते हैं।
कटु, अम्ल, लवण—पित्त को पैदा करते हैं।
मधुर, तिक्त, कषाय—पित्त को शान्त करते हैं।
मधुर, अम्ल, लवण—श्लेष्मा को पैदा करते हैं।
कटु, तिक्त, कषाय—श्लेष्मा को शान्त करते हैं।

मनुष्य-शरीर को योग के अंगों के अनुकूल बनाने के लिए आयुर्वेद के इस तत्त्व को भली प्रकार समझकर प्रयोग में लाइये, निश्चित रूप

से आपका स्वास्थ्य तथा शरीर योग के योग्य बन जायेगा।

निद्रा

आहार के पश्चात् शरीर का दूसरा उपस्तम्भ निद्रा बतलाया गया है।

कई बार यह विचार मन में आ जाता है कि यदि भगवान् ने निद्रा की देन न दी होती, तो मनुष्य की क्या गति होती ?

कितनी उपयोगी, प्यारी तथा मीठी यह देन है और भगवान् ने इसके लिए रात्रि भी बना दी। संसारभर में सारे प्राणी—पशु, पक्षी, जीव, जन्तु, मनुष्य, सब रात्रि को सोते हैं; सिवाय रेलवे, समाचार-पत्रों तथा पॉवर-हाउसों (बिजली-घरों) और रात्रि को चलनेवाले अन्य कारखानों में (जिनकी रात्रि की ड्यूटी हो) कार्य करनेवालों के। शेष मनुष्य यदि पीड़ा अथवा रोग और चिन्ता से पीड़ित नहीं हैं तो इस अत्यन्त मीठी देन का पूरा सुखलाभ करते हैं। हाँ, एक और तरह के लोग भी रात्रि के एक बड़े भाग में नहीं सोते। वे ऐसे तपस्वी महानुभाव हैं जो तत्त्वज्ञान और आत्म-दर्शन में लगे हुए हैं।

निद्रा है तो तमोगुण-प्रधान, परन्तु तमोगुण भी सृष्टि के लिए बड़ी उपयोगी वस्तु है। तम न हो तो यह पृथिवी ही न हो। मनुष्य तब निवास कहाँ करें और खाये-पिये क्या ? ऐसे ही तम न हो तो निद्रा का भी सुखलाभ न हो सके।

निद्रा से जीवन-बैटरी चार्ज होती है

दिनभर मनुष्य नाना कार्यों में व्यस्त रहता है। इन्द्रियाँ भी और शरीर के सारे अंग भी कार्य करते हैं। इस परिश्रम से (चाहे यह शारीरिक परिश्रम हो या मस्तिष्क का) मनुष्य-शरीर की जीवनधारा प्रतिक्षण व्यय होती रहती है। परिश्रम करते-करते एक समय ऐसा आ जाता है जब आप यह अनुभव करते हैं कि 'मैं अब थक गया हूँ।' यह थकावट न खान-पान से, न किसी मन्त्र-औषध से दूर होती है, अपितु इस थकावट को दूर करनेवाली निद्रा ही है। जिस प्रकार मोटर में बैटरी (Battery) खर्च होती रहती है और जब यह काम न दे तो आप उसे वर्कशॉप में भेज देते हैं ताकि उसे फिर भरवाया

(Recharge) जा सके, इसी प्रकार मनुष्य का थका हुआ शरीर भी जब निद्रा की गोद में दे दिया जाता है तो निद्रा उसे अपनी शक्ति से पुनः कार्य करने के योग्य बना देती है; परन्तु निद्रा शरीर की न्यूनता को पूर्ण रूप से पूरा नहीं कर सकती। यदि निद्रा उस कमी को सर्वथा पूर्ण कर दिया करती तो मनुष्य कभी वृद्ध ही न होता, युवक ही बना रहता। परन्तु निद्रा मनुष्य को सौ, दो सौ, तीन-चार सौ वर्षों तक जीवित रखने की सामर्थ्य दे सकती है।

शरीर की थकावट दूर करने की एक अद्भुत शक्ति निद्रा को प्राप्त है। मेरा एक अनुभव सुनिये। १९५१ में गंगोत्तरी के पवित्र वन में योग-निकेतन में वास करने के पश्चात् वहाँ से लगभग ५६ मील दूर उत्तर काशी की ओर चला, तो मार्ग में रात्रि-विश्राम के जो स्थान आते हैं, उनमें सफाई न रहने के कारण पिस्सू तथा खटमलों का राज्य हो गया था। दिनभर ऊँची-नीची घाटियों तथा नदी-नालों को पार करके थके-माँदे जब 'चट्टी' (विश्राम-स्थान) पर पहुँचते और भूमि पर लेट जाते तो लेटते ही निद्रा आने के स्थान में पिस्सू तथा खटमल पास आ जाते। निद्रा आने लगती तो वे काटना आरम्भ कर देते। रात खुजलाते ही व्यतीत हो जाती। अगली प्रातः फिर चलना होता। थके हुए शरीर ही के साथ चल पड़ते और रात्रि को अगले पड़ाव पर फिर पिस्सू व खटमल स्वागत के लिए तैयार मिलते। चार रात्रियाँ इसी प्रकार काटनी पड़ीं। शरीर सर्वथा शिथिल और जीवन-हीन प्रतीत हो रहा था। परन्तु उत्तर काशी में जब पाँचवीं रात्रि को विश्राम किया तो स्वप्न-अवस्था के पश्चात् सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त हो गई और इतनी गहरी गम्भीर निद्रा आई कि प्रातःकाल जब उठे, तो शरीर सर्वथा थकानरहित हो चुका था। शिथिलता, शरीर का भारीपन और आलस्य इत्यादि सब भाग चुके थे। निद्रा को इसीलिए विष्णु की माया कहा है। न इसका कोई रंग है, न रूप; न यह हाथ से स्पर्श की जा सकती है, न जिह्वा से चखी और न नासिका से सूँघी जा सकती है; परन्तु इसका स्वाद मन द्वारा बिना किसी बाह्य इन्द्रिय की सहायता के अवश्य लिया जा सकता है।

प्रभु की अद्भुत देन निद्रा

ऐसी सुन्दर देन का भी मनुष्य ने मान नहीं किया; लोभ, काम इत्यादि के वश होकर इसका भी तिरस्कार कर दिया।

बम्बई के एक धनी के सम्बन्ध में बतलाया जाता है कि उसने जब व्यापार आरम्भ किया तो रात्रि को २-३ बजे तक वह हिसाब-किताब में ही संलग्न रहता था। निद्रा तो आती थी परन्तु जब भी निद्रा आकर सेठ को अपनी गोद में लेने का यत्न करती तो सेठ उठकर आँखों पर जल के छींटे देकर निद्रा को भगा देता। निरन्तर कई वर्ष बार-बार ऐसा करने से निद्रा ने सेठ के पास आना छोड़ दिया। इस परिश्रम से सेठ के पास धन तो पर्याप्त हो गया, परन्तु निद्रा चली गई। सेठ अब लाख यत्न करता है किसी प्रकार कुछ ही घड़ियाँ निद्रा आ जाय, परन्तु निद्रा लानेवाली औषधियाँ भी निद्रा लाने में सफल न हो सकीं। उसने तब विज्ञापन दिया कि जो कोई बिना किसी औषधि के उसे निद्रा लाने में सफल होगा, उसे एक लाख रुपया दिया जाएगा।

मैंने तब कहा, जब धन पास नहीं था तो निद्रा स्वयमेव आती थी और सेठ जी पानी की बौछार निद्रा पर छोड़कर उसे भगा देते थे। निद्रा चली गई और धन आ गया तो अब सेठ जी धन को धक्का दे रहे हैं और निद्रा को लाना चाहते हैं; परन्तु अब ऐसा हो नहीं सकेगा। धन से निद्रा लानेवाली औषधियाँ तथा इंजेक्शन तो खरीदे जा सकते हैं, निद्रा नहीं खरीदी जा सकती। यह तो प्रभु की अमूल्य देन है। जो पूरी निद्रा नहीं ले सका, वह भजन में स्वस्थ और सावधान होकर नहीं बैठ सकता। उसे जम्हाइयाँ आती ही रहेंगी।

इस अवस्था को 'सुश्रुत' में जृम्भा कहा गया है। सुश्रुत में यह भी बतलाया गया है कि निद्रा का नाश क्यों होता है। श्री धन्वन्तरि जी बतलाते हैं कि—"वायु और पित्त से, मन के सन्ताप (चिन्ता अथवा सोच-विचार) से और चोट आदि की पीड़ा से निद्रा का नाश होता है और इनके विपरीत भावों से निद्रा-नाश की शान्ति होती है।"

(शरीर स्थान अ० ४। ४०-४२)

सच्ची निद्रा कैसे ?

उन्होंने निद्रा-नाश को दूर करने का उपाय भी बतलाया है और वह यह कि—"शरीर पर तेल मलकर उबटन मलना और स्नान करना चाहिए तथा शरीर पर तैल-मर्दन और हाथ-पाँव धीरे-धीरे दबाना"—इस शारीरिक उपचार के साथ यह भी आवश्यक है कि मन में जिस बात से सन्ताप या चिन्ता हो रही है, उसे मन से निकाल दिया जाय।

कितने ही तमोगुण-प्रधान प्रकृतिवालों को निद्रा बहुत अधिक आती है; जब देखो सोये हुए। कितने ही साधक यह शिकायत करते हैं कि जब भजन में बैठते हैं तो निद्रा या तन्द्रा के झोंके आने लगते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए धन्वन्तरि जी बतलाते हैं कि "यदि निद्रा अधिक आती हो तो वमन करावे तथा विरेचनादि द्वारा पेट-शोधन करे, लंघन (उपवास) करावे और रक्त निकलवाये, या फिर कोई अच्छी-सी चिन्ता लगा ले।"

स्वाभाविकी निद्रा के सम्बन्ध में 'सुश्रुत' में यह आदेश है—"स्वाभाविक तमोगुण की बाहुल्यतावाले मनुष्यों को दिन में भी निद्रा आती है और रात्रि में भी अतिनिद्रा आती है। रजोगुण की प्रधानता-वालों को बेनियम कभी-कभी दिन में और कभी-कभी रात्रि में निद्रा आती है तथा सत्त्वगुण की बाहुल्यतावालों को अर्ध-रात्रि के समय (थोड़ी-सी निद्रा) आया करती है।"

इससे अगले वचन में धन्वन्तरि जी कहते हैं—"जिनका कफ क्षीण हो जाय, वायु बढ़ जाय, अथवा मन या शरीर में सन्ताप हो, उन मनुष्यों को प्राय: निद्रा नहीं आती। यदि आ ही जाय तो उसे वैकारिकी निद्रा कहते हैं।"

अतिनिद्रा भी ठीक नहीं और अतिनिद्रा-नाश भी ठीक नहीं। दोनों अतियों को त्यागकर इतनी निद्रा लेना आवश्यक है जिससे शरीर का भारीपन, थकावट इत्यादि जाती रहे और भजन तथा साधना के समय आलस्य तथा प्रमाद आक्रमण न कर दें।

जिनका आहार स्वास्थ्य-प्रद है और जिनके मन में कोई चिन्ता बैठी वहाँ घाव नहीं कर रही, वे सुन्दर सच्ची निद्रा का सुख लेकर शरीर को नीरोग रख अपनी साधना में लग सकते हैं। यह शरीर के दो उपस्तम्भों का वर्णन हुआ। अब तीसरे की बात सुनिये।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य बड़ा पवित्र और चित्ताकर्षक शब्द है। इसका अर्थ है—ब्रह्म भगवान् में विचरना। निस्सन्देह ब्रह्म में वही विचर सकता है, जो अपने शरीर के वास्तविक भौतिक लक्ष्य वीर्य या शुक्र को अपने वश में रखता है। मनुष्य जो अन्न खाता है, उसे पेट की जठराग्नि पचाती है और एक विशेष रसायन अन्न में मिलाकर रस का रूप धारण कराती है। यह रस फिर क्या-कुछ करता है, इसका बड़ा सुन्दर विवरण धन्वन्तरि जी महाराज ने सुनाया है। वे कहते हैं कि :

रसः प्रीणयति रक्तपुष्टिं च करोति, रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च, मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च, मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च, अस्थि देहधारणं मज्जापुष्टिं च, मज्जा प्रीतिं स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां च करोति, शुक्रं धैर्यं च्यवनं देहबलं हर्षबीजार्थं च ॥५॥

(सुश्रुत सूत्रस्थान अ० १५)

'रस तृप्तिकारक है और रुधिर की पुष्टि करता है। रुधिर वर्ण को श्रेष्ठ करता है, मांस की पुष्टि करता है तथा जिलाता है। (उस रक्त से शरीर में जो मांस बनता है वह) मांस शरीर को पुष्ट करता है तथा मेद का पोषण करता है। मेद (चर्बी) स्निग्धता, पसीना, दृढ़ता लाकर अस्थियों का पोषण करती है। अस्थि देह को धारण करती है और मज्जा की पुष्टि करती है। यह मज्जा प्रसन्नता, स्निग्धता, बल और वीर्य को उत्पन्न करती है, शुक्र की पुष्टि और अस्थियों को पूर्ण करती है। वीर्य धीरता, प्रीति, शरीर में बल और हर्ष को उत्पन्न करता है तथा सन्तानोत्पत्ति का कारण है।'

इस वीर्य के पश्चात् इसी वीर्य से शरीर में एक अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है जिसका नाम धन्वन्तरि जी ने 'ओज' बतलाया है। यही आत्मदर्शन कराने में सहायक बनता है। जो लोग वीर्य का अधिक

व्यय कर देते हैं, उनको ओज प्राप्त नहीं होता। ऐसे लोगों का आत्मा बलवान् नहीं हो सकता। न ही वे अपने स्वरूप को देख सकते हैं। वीर्य-जैसे बहुमूल्य रत्न को पूरी सावधानी से सँभालकर रखने की आवश्यकता है क्योंकि "ब्रह्मलोक केवल उन्हीं लोगों को मिलता है जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य से ढूँढते हैं; ऐसे ही लोगों को सारे लोकों में स्वतन्त्रता होती है।"[1]

वीर्य किस प्रकार से सात-आठ मंज़िलों से गुज़रकर अन्तिम रूप धारण करता है, यह 'सुश्रुत' से ज्ञात हो जाता है। वीर्य शरीर का आधार-स्तम्भ है और साथ ही आत्म-दर्शन का भी। यह लोक-परलोक दोनों का देनेवाला है। इसीलिये इसको यज्ञ भी कहा गया है।

ब्रह्मचर्य : एक यज्ञ

छान्दोग्य-उपनिषद् के आठवें प्रपाठक का पाँचवाँ खण्ड ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालता है। उसमें ब्रह्मचर्य को यज्ञ बतलाते हुए लिखा है :

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ॥१॥

'जिसको (धार्मिक लोग) यज्ञ कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही उस परमात्मा को (ब्रह्मचर्य को) पा सकते हैं; और जिसको इष्ट कहते हैं वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही, वह ढूँढ करके (इष्ट्वा) आत्मा को पा लेता है।'

अथ यत् सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दते। अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥२॥

'जिसको लोग सत्रायण कहते हैं वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही यह सत् (सत्य ब्रह्म) आत्मा की रक्षा (त्राण)

१. तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाᳩ सर्वेषु लोकेषु कामचारी भवति। छा० उ०, प्र० ८। खं० ४। मं० ३॥

को पाता है; और जिसको मौन कहते हैं वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही पुरुष आत्मा को ढूँढकर उसपर ध्यान जमाता है।"

यहाँ इष्ट-यज्ञ तथा सत्रायण-यज्ञ का वर्णन किया गया है। इष्ट का प्रयोजन 'इष्ट्वा' (आत्मा) को ढूँढ निकालना है और सत्रायण का प्रयोजन—सतः[1] त्राणम् (सत्=सत्यब्रह्म से) अपनी आत्मा की रक्षा से है।

लोक-परलोक सुधारनेवाला यज्ञ

यज्ञ के द्वारा जहाँ इस लोक में अपने इस शरीर तथा अन्तःकरण को बलवान्, शुद्ध तथा पवित्र बनाया जा सकता है, वहाँ यज्ञ ब्रह्मलोक में ले-जानेवाला है। इसका वर्णन 'शतपथ-ब्राह्मण' में आया है। जब जनक जी ने यज्ञ के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य जी से छः प्रश्न पूछे तो उन्होंने बड़े विस्तार से उनका उत्तर दिया। होम की हुई आहुतियाँ जिस प्रकार एक सूक्ष्म रूप धारण करके आकाश में प्रवेश करती हैं और वे वायु तथा उसमें स्थित जल को स्वच्छ तथा पुष्ट करती हैं, फिर वह जल मेघ के रूप में नीचे उतरता है जिससे औषध वा अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से वीर्य प्राप्त होता है, इसी प्रकार होम की हुई आहुतियाँ एक दूसरा अत्यन्त सूक्ष्म रूप धारण कर यज्ञ करनेवाले के अन्तःकरण में प्रवेश करती हैं। यह रूप वह है जो श्रद्धा-भक्तिपूर्ण विश्वास में यथाविधि आहुति देते समय एक आस्तिक व्यक्ति के चित्त पर उस कर्म के शुभ संस्कार पड़ते हैं। यही वह धर्म है जो मृत्यु के पीछे मनुष्य के साथ (सूक्ष्म शरीर में वासना बनकर) जाता है।

इस प्रकार यज्ञ की आहुतियों के दो रूप हो गये—एक जो सूक्ष्म-रूप से आकाश में प्रवेश करता है और दूसरा संस्कार-रूप से अन्तः-

---

१. जब बड़े-बड़े यज्ञ किए जाते हैं तो जो लोग उनमें सम्मिलित होते हैं उनको व्रती बनाकर ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा उनसे कराई जाती है। श्री महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज इसलिए यज्ञ करनेवालों से व्रत धारण कराते हैं।

करण में। इनमें से आकाश सबका साँझा है, इसलिए आकाश में प्रविष्ट आहुतियाँ सबके लिए साँझा फल देती हैं अर्थात् वृष्टि और पुष्टि। परन्तु अन्तःकरण तो सबका पृथक्-पृथक् है सो उसमें प्रविष्ट हुई आहुतियाँ, आहुतियाँ देनेवाले ही का परलोक सुधारती हैं।

जिस प्रकार यज्ञ की आहुतियाँ लोक-परलोक दोनों का सुधार करती हैं, इसी प्रकार शरीर का वीर्य भी लोक-परलोक दोनों को सुधारता है। इसलिए इसे यज्ञ का नाम दिया गया है। वीर्यवान् व्यक्ति सदा प्रसन्न रहेगा। उसे क्रोध नहीं आयेगा। वह शरीर के हर अङ्ग को स्वस्थ रख सकेगा। उसकी बुद्धि तीव्र होगी और वह कभी निराश नहीं होगा। परन्तु वीर्यहीन लोग सर्वदा रोगी रहेंगे; मुखमण्डल पर उदासीनता डेरा डाले बैठी रहेगी; ज़रा-ज़रा-सी बात पर क्रुद्ध हो जाने का स्वभाव-सा बन जायेगा, चिड़चिड़ापन आ जायेगा, किसी भी कार्य में मन नहीं लगेगा।

गृहस्थी भी ब्रह्मचारी

गृहस्थ-आश्रम में जानेवाले महानुभाव शङ्का कर सकते हैं कि गृहस्थी किस प्रकार ब्रह्मचर्य-पालन कर सकता है? इसका उत्तर भगवान् मनु ने पहले ही दे रखा है:

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ मनु ३। ५०॥

'पहली निन्दित छः रात्रियाँ तथा दूसरी और आठ रात्रियाँ—कुल चौदह रात्रियों को छोड़कर जो पुरुष (महीने में) केवल दो रात्रि स्त्री-प्रतिगमन करता है, वह ब्रह्मचारी ही माना जाता है।'

निन्दित छः रात्रियाँ वही हैं जब स्त्री रजस्वला होती है; और शास्त्र बताता है कि जब स्त्री मासिक धर्म में हो तो ऐसी अवस्था में जो पुरुष संसर्ग करता है वह अपने-आपको भी और अपनी पत्नी को भी अनेक प्रकार की बीमारियों का शिकार बना देता है। इन रात्रियों के पश्चात् भी फिर प्रतिपदा, षष्ठी, अष्टमी, एकादशी, द्वादशी, चतुर्दशी और पूर्णिमादि तिथियाँ हों तो आयुर्वेद ने इनको भी वर्जित बतलाया है। इस मर्यादानुसार मास में दो ही रात्रियाँ मिलती हैं।

इसलिए मनु भगवान् ने इस मर्यादा पर चलनेवालों को ब्रह्मचारी ही कहा है और ऋषि याज्ञवल्क्य ने भी आदेश दिया है कि :

ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः ।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ।।

'ऋतुकाल में अपनी धर्म-पत्नी से शास्त्र-आदेशानुसार केवल सन्तानार्थ समागम करनेवाला पुरुष गृहस्थ में रहता हुआ भी ब्रह्मचारी है।'

गृहस्थ के लिए और भी कितने ही नियम हैं जिनपर कटिबद्ध होने से स्त्री-पुरुष दोनों ब्रह्मचर्य का लाभ कर सकते हैं। सनातन वैदिक संस्कृति में तो विवाह केवल पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए है और हमारी संस्कृति ने विवाह को एक धार्मिक तथा पवित्र आश्रम बतलाया है; वर और कन्या एक-दूसरे को वरते हुए आत्म-समर्पण करते हैं और वेद-मन्त्रानुसार अपनी कान्ति, लक्ष्मी, महिमा तथा ज्ञान बढ़ाते हुए परमात्मा की कृपा के पात्र बनकर मोक्ष पाते हैं। परन्तु यह तभी हो सकता है जब स्त्री-पुरुष दोनों अपना धर्म-सम्बन्ध समझकर इन्द्रिय-संयमपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करें।

दो कफन तय्यार

इस जीवन के तत्त्व 'ब्रह्मचर्य' के रहस्य को यूनान (ग्रीस) के महात्मा सुकरात (साक्रेटीज) ने भी समझा था। उनके जीवन में आता है कि एक बार स्त्री-पुरुष के सहवास के सम्बन्ध में एक शिष्य ने सुकरात से पूछा :

शिष्य—पुरुष को स्त्री-प्रसङ्ग कितनी बार करना उचित है ?
सुकरात—जीवनभर में केवल एक बार।
शिष्य—यदि इससे तृप्ति न हो सके तो ?
सुकरात—तो प्रतिवर्ष एक बार।
शिष्य—यदि इससे भी सन्तुष्टि न हो तो ?
सुकरात—फिर महीने में एक बार।
शिष्य—इससे भी मन न भरे तो ?

सुकरात—तो महीने में दो बार कर ले, परन्तु मृत्यु शीघ्र आ जायेगी।

शिष्य—इतने पर भी इच्छा बनी रहे तब क्या करे ?

सुकरात—फिर ऐसा करे कि पहले कफन लाकर घर में रख ले, फिर जो इच्छा हो करे।

इस तथ्य की बात में इतना ही बढ़ाना है कि एक नहीं, दो कफन मँगवाकर रख लेने चाहियें। यह निश्चित जानिये कि जिसने अपने-आपको सँभालकर रखा और लोक-परलोक, दोनों में सुख देनेवाले वीर्यरत्न को जिसने व्यर्थ नहीं गँवाया, वह सदा प्रसन्नचित्त रहेगा, उसमें सामर्थ्य आयेगी और वह हर क्षेत्र में विजयी होगा।

योग-दर्शन के साधन-पाद में ब्रह्मचर्य के गुण बतलाने के लिए लिखा है :

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

'ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर सामर्थ्य का लाभ होता है।'

नियमानुकूल ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले के मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर में अपूर्व शक्ति प्रकट हो जाती है।

सारे ही ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों और योगियों तथा आयुर्वेद के विद्वानों ने ब्रह्मचर्य के गुण गाये हैं और इतिहास बतलाता है कि ब्रह्मचारी हनुमान जी ने शूरवीरता के वे कौतुक दिखलाये कि लाखों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सभ्य लोग उन्हें प्रणाम करते हैं। क्या आप नहीं जानते कि भारत-जैसा देश गुलामी की दलदल में कब फँसा ? यह दुर्घटना तब घटी जब पृथ्वीराज संयोगिता के मोह में फँस गया। भारत के लिए वह दिन दुर्दिन था जिसने चिरकाल तक भारत को अन्य देशवासियों का दास बनाये रखा। जब देश पर आक्रमण करने-वालों को पीछे धकेलने के लिए पृथ्वीराज रणक्षेत्र को चला तो चलने से पूर्व वह संयोगिता से रंगरेलियाँ मनाता रहा। जिस विदेशी को पृथ्वीराज १६ बार पराजित कर चुका था, उसी के सामने वीर्यहीन होकर स्वयं पराजित हो गया। उसी दिन से भारत की गुलामी शुरू हुई।

नैपोलियन जैसे योद्धा के सम्बन्ध में भी यही कहा जाता है कि जब उसके ह्रास का समय आया तो युद्ध पर जाने से पहले वह अपना खून स्वयं कर चुका था। ऐसे ही अभिमन्युकुमार के सम्बन्ध में गाथा है कि वह चन्द्रमा के समान सुन्दर, सूर्य-जैसा तेजस्वी युवक कुरुक्षेत्र के युद्ध-स्थल में गया तो पहली रात वीर्य-दान देकर गया और मारा गया। ब्रह्मचर्य निस्सन्देह इहलोक में भी विजय करता है और फिर परलोक में भी सफल बनाता है, इसीलिए आर्य ऋषियों ने मनुष्य-जीवन के चार भागों में से तीन भाग पूर्ण ब्रह्मचर्य में गुज़ारने का विधान बनाया और चौथे भाग गृहस्थ-आश्रम में केवल संसार-स्थिति के लिए ऋतु-अनुकूल नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करने का कड़ा नियम रखा। इतना महत्त्व-पूर्ण यह तीसरा उपस्तम्भ है जो शरीर को स्वस्थ बनाता है।

शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के ये तीन मुख्य साधन आयुर्वेद ने बतलाये हैं—आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य। इन अनमोल रत्नों से लाभ उठाइये और जब शरीररूपी रथ ठीक अवस्था में हो तो मानव-जीवन के उद्देश्य की ओर तीव्रता से अग्रसर होकर मंज़िल पर पहुँच जाइये।

: ४ :

प्राणायाम तथा ध्यान

वर्णन तो यह हो रहा था कि प्राण तथा मन का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और इन दोनों को निरुद्ध करने के दो मुख्य साधन 'प्राणायाम और ध्यान' हैं और ये दोनों तभी सिद्ध होते हैं जब आसन दृढ़ हो जाय। आसन दृढ़ करने के लिए शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है, इसीलिए शरीर के तीन उपस्तम्भों—आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य का प्रकरण बीच में आ गया।

प्राणायाम ही तप है

अब फिर मन तथा प्राण की ओर ध्यान कीजिये और प्राणायाम तथा ध्यान का मूल्य समझिये।

प्राणायाम एक ऐसा तप है जिससे भीतर के सब मल नष्ट होते बतलाए जाते हैं। पंचशिखाचार्य-प्रणीत सांख्य-सूत्र में पूरे बल से यह कहा है :

तपो न परं प्राणायामात्ततो, विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य॥ १९॥

'प्राणायाम से बढ़कर और तप नहीं है। प्राणायाम से मलों की शुद्धि होकर ज्ञान का प्रकाश होता है।'

जब प्राणायाम से अन्दर के मलों की शुद्धि हो जाती है और राग-द्वेष मिटकर ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, तब क्या होता है ? इसका अनुभव इससे अगले सूत्र में पंचशिखाचार्य यह बतलाते हैं कि :

तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् संप्रजानीते॥ २०॥

'उस अणुमात्र आत्मा को ढूँढकर 'यह हूँ' इस प्रकार ठीक-ठीक जान लेता है।'

मनु भगवान् नें प्राणायाम के सम्बन्ध में यह कहा है कि :

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ ७१॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ।। ७२ ।।
मनु० अ० ६ । ७१-७२ ।।

'जैसे धातुओं (सुवर्णादि) के मैल अग्नि में धौंकने से फुंकते हैं, वैसे ही प्राण के रोकने से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं' ।। ७१ ।।

'प्राणायाम से रोगादि दोषों को, धारणा से पाप को, इन्द्रियों के रोकने से विषयों के संसर्गों को और ध्यानादि से मोहादि गुणों को जला दे' ।। ७२ ।।

प्राणायाम हानिप्रद कैसे ?

परन्तु प्राणायाम को कुछ ऐसा जटिल-सा बना दिया गया है कि सर्व-साधारण प्राणायाम का नाम सुनते ही यह कहते सुने जाते हैं कि— "यह तो बहुत कठिन साधन है और रोग उत्पन्न करनेवाला है ।" मैं यह मानता हूँ कि कितने ही व्यक्तियों का स्वास्थ्य बिगड़ता देखा गया है । कुछ तो कान खो बैठे हैं, कुछ आँखें और एक को तो उन्मत्त हुआ भी देखा गया है, परन्तु इसका कारण प्राणायाम नहीं, अपितु प्राणायाम का दुरुपयोग है । यदि प्राणायाम विधि से न किया जाय, भरे पेट, जुकाम में या ऋतु-प्रतिकूल किया जाय, तीव्र वायुवेग में किया जाय और आहार का ध्यान रखे बिना, शुद्ध घी-दूध का प्रबन्ध किये बिना किया जाय तो हानि होना असम्भव नहीं, परन्तु यदि विधि-अनुसार, बुद्धि-पूर्वक, गुरु-शिक्षानुसार किया जाय तो अवश्य पूरा लाभ देगा ।

प्राणायाम का तत्त्व

प्राणायाम क्या है ? महर्षि पतंजलि के कथनानुसार :

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।
योग० २ । ४९ ।।

'श्वास-प्रश्वासों की गति-विच्छेद का नाम प्राणायाम है ।' मुनि ने यह भी बतलाया कि प्राणायाम के चार भेद हैं—(१) बाह्य विषय, (२) आभ्यन्तर, (३) स्तम्भवृत्ति, और (४) बाह्याभ्यन्तराक्षेपी ।

इसकी विधि यह है :

प्राणायाम की विधि

१. राग-द्वेष इत्यादि से रहित, प्रसन्नचित्त, पवित्र और उत्साह से भरपूर साधक ऐसे आसन पर बैठे जो गुदगुदा हो। पद्म, सिद्ध, स्वस्तिक अथवा सुखासन में बैठकर ग्रीवा तथा पीठ सीधी रखे, न बहुत अकड़े, न झुककर बैठे, आसन पर इस प्रकार बैठकर अपने प्राणों की गति पर ध्यान दे। यदि सूर्य-स्वर (दक्षिण) चल रहा हो तो उसे पहले चन्द्र में परिवर्तित कर ले।

२. दक्षिण बगल में वाम हाथ की मुट्ठी रखकर बाहु से जोर से दबाये तो थोड़ी देर में चन्द्र-स्वर चलने लगेगा। चन्द्र-स्वर जब चलने लगे तो फिर कोमलभस्त्रा करके सम स्वर कर ले। सम स्वर होने पर जो प्राणायाम किया जायेगा, वह सफलता देनेवाला होगा।

३. प्रातः और सायं ही प्राणायाम के लिए उपयुक्त समय हैं।

(१) जब सम स्वर हो जाय तो पहले प्राण को अन्दर से बाहर, धीरे-धीरे फेंको, फिर धीरे-धीरे भीतर ले आओ। तीन-चार बार ऐसा करने के पश्चात् अब श्वास को पूर्णतया बाहर फेंको और जब तक सहन हो सके उसे बाहर ही रोके रखो, इसी को बाह्य-विषय कहते हैं।

(२) जब सहन न हो सके तो प्राण को धीरे-धीरे भीतर ले आओ और पेट नाभि-पर्यन्त भर लो। अब इस प्राण को जितना समय सुखपूर्वक रोका जा सकता है अन्दर ही रोको, यही आभ्यन्तर विषय है। जब कुछ भी घबराहट अनुभव होने लगे तो प्राण को धीरे-धीरे बाहर निकालना शुरू करो और निकालते-निकालते पेट को भीतर की ओर सिकोड़ते चले जाओ और श्वास को फिर बाहर ही रोक दो। घबराहट प्रतीत होने लगे तो फिर प्राण भीतर ले आओ। यही रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायाम हैं।

(३) स्तम्भवृत्ति प्राणायाम यह है कि श्वास को बाहर या भीतर लाये बिना ही, जैसे श्वास चल रहा है, उसे जहाँ-का-तहाँ एकदम रोक दिया जाय और यथाशक्ति रोके रखा जाय।

(४) एक और रूप प्राणायाम का यह है कि जब प्राण अन्दर से

बाहर जा रहे हों तो उन्हें बाहर जाने से रोक देना और बाहर से प्राण अन्दर ले जाना, या इसके उलट अन्दर आनेवाले प्राण को रोक देना और अन्दर से अधिक प्राण को बाहर ले जाना, इसी को बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं।

इन प्राणायामों को पूरी सावधानी से करें। जैसे सिंह को पकड़नेवाले बड़ी होशियारी से सिंह को पिंजरे में डाल देते हैं, इसी प्रकार प्राण को धीरे-धीरे वश में करना चाहिए; न तो उकताना चाहिए, न ही थोड़े समय में 'सिद्ध' बनने का यत्न ही करना चाहिये। पहले आधा मिनट, फिर धीरे-धीरे बढ़ाते-बढ़ाते प्राण-निरोध का समय बढ़ाते चले जाना चाहिये। बस, यही प्राणायाम है।

अब देख लीजिये कि इसमें कठिनाई कहाँ है? हाँ, हठ-योगानुसार नाना प्रकार के प्राणायाम हैं, जिनका कुछ वर्णन 'प्रभु-भक्ति' में किया जा चुका है। उसके अनुसार जब प्राण को भीतर ले-जाकर कुम्भक किया जाता है तो अधिक अभ्यास हो जाने पर प्राण तथा अपान दोनों का मिलाप हो जाता है। इससे मूलाधार में सोई हुई शक्ति जाग्रत हो उठती है।

जिन प्राणायामों में रेचक, पूरक, कुम्भक, स्तम्भवृत्ति का वर्णन किया है, उन्हें निरन्तर जारी रखना चाहिए और निरोध की अवधि तक बढ़ाते चले जाना चाहिए। साथ ही मूलाधार से लेकर सहस्राधार ब्रह्मरन्ध्र तक यथाक्रम ध्यान भी करना चाहिए। इससे जहाँ प्राण का निरोध होगा, वहाँ मन भी एकाग्र होने लगेगा।

प्राण और मन के सम्बन्ध में ये श्लोक अधिक प्रकाश डालनेवाले हैं:

चित्तं प्राणेन सम्बद्धं सर्वजीवेषु संस्थितम्।
रज्ज्वा यद्वत्सुसंबद्धः पक्षी तद्वदिदं मनः॥
नानाविधैर्विचारैस्तु न बाध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयोपायः प्राण एव हि नान्यथा॥

'मन प्राण के अधीन है। जैसे रज्जु से पक्षी बँधा रहता है, उसी तरह सब जीवों का चित्त भी प्राण के साथ बँधा हुआ है। यदि कोई

चाहे कि मैं विचार द्वारा उस मन को वश में कर लूं तो इस प्रकार तो मन बाध्य नहीं होता है। इसलिए मन के निरोध का एकमात्र उपाय प्राणायाम ही है।'

भगवान् कृष्ण और भी स्पष्ट रूप से यह आदेश देते हैं :

एवं समाहितमतिर्मामिवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्वात्मज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम्॥

'इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा ध्यान करने से वशीभूत हो जाने पर जैसे एक ज्योति में दूसरी ज्योति मिलकर एक हो जाती है, ऐसे ही साधक अपने में मुझे और मुझ आत्मा में अपने को मिला देता है।'

प्राणायाम द्वारा प्राण को रोकते-रोकते जब अवधि बढ़ जाती है तो मन लय होने लगता है।

महर्षि दयानन्द का अनुभव

इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द ने यह आदेश दिया है :

"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाती है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आ जाता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपनी आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारम्बार मग्न करना चाहिए।"

(ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका—उपासना विषय)

महर्षि दयानन्द की यह अनुभूत विधि है।

एक और स्थान पर महर्षि स्वामी दयानन्द यह आदेश देते हैं :

"मन को चंचलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके, ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर हैं, उसका विचार करना।" (ऋ० भा० भू०)

प्राणायाम द्वारा मन का निरोध करने का कुछ वर्णन हुआ। परन्तु सभी साधक प्राणायाम से लाभ उठाने में समर्थ नहीं होते हैं।

ओ३म् तथा गायत्री मन्त्र का जप

ऐसे साधकों को प्राणायाम से पूर्व ओ३म् या गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिए। अनुभव ने बतलाया है कि विधिपूर्वक, पवित्र रहकर, यम-नियमों का पालन करते हुए यदि गायत्री मन्त्र के अर्थों को हृदयंगम करके २४ करोड़ जप किया जाय तो इस साधन से भी मन लय होने लगता है।

इसके साथ मन के लय का सबसे बड़ा उपाय ध्यान है।

ध्यान किस प्रकार ?

मन तथा प्राण के निरोध का दूसरा मुख्य उपाय ध्यान है। ध्यान का अभिप्राय यह है कि आज्ञाचक्र (भृकुटि), ब्रह्मरन्ध्र अथवा हृदय-प्रदेश या शरीर के किसी स्थान पर मन को इस प्रकार बाँध देना, जैसे कीला गाड़कर पशु बाँध दिया जाता है और वह पशु उस कीले ही के गिर्द चक्कर लगाने लगता है तथा चक्कर लगाते-लगाते अन्त में थककर वहीं बैठ जाता है। इसी प्रकार जब साधक हृदय-प्रदेश में अथवा भृकुटि में मन को बाँध देगा और वहीं ध्यान लगाये रखेगा तो पहले-पहल तो मन बहुत उछल-कूद मचायेगा और भाग निकलने का यत्न करेगा, परन्तु जब साधक के ध्यान की रस्सी खूब दृढ़ होगी तो मन उसे तोड़ नहीं सकेगा; उसी परिधि में घूमता रहेगा और अन्त में थककर विश्राम करने लगेगा। यह सत्य है कि मन की गति कभी रुकती नहीं। समाधि-अवस्था में पहुँचनेवालों का भी यही अनुभव है कि मन की क्रिया निरन्तर जारी रहती है। हाँ, वह क्रिया इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि शून्य-सी प्रतीत होने लगती है परन्तु गति अथवा क्रिया रहती अवश्य है।

मन निर्विषय कैसे ?

अब यह शंका होगी कि सांख्य शास्त्र में तो ध्यान के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि :

"**ध्यानं निर्विषयं मनः ॥**" सांख्य० ६। २५॥

'मन को निर्विषय करने का नाम ही ध्यान है।'

इसका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन तो यही है कि मन निर्विषय हो जाय। परन्तु निर्विषय का अभिप्राय यह है कि मन किसी भी बाह्य या भौतिक विषय का चिन्तन न करे। हाँ, एकाग्रता के लिए ब्रह्म-तत्त्व का तो उसे चिन्तन करना ही होगा।

यदि एक कमरे में बहुत कूड़ा-कबाड़ और अन्य कई वस्तुएँ पड़ी हों और नौकर से यह कहा जाय कि 'इस कमरे को सर्वथा खाली करके साफ कर दो, इसके अन्दर कोई भी वस्तु रहने न पाय' और नौकर उसी प्रकार कमरे को साफ करके आकर यह कहे कि कमरा सर्वथा साफ कर दिया गया है और आप यह पूछें कि 'क्या कोई भी वस्तु उसमें नहीं रही? देख लिया है न तूने? कहीं किसी कोने अथवा खूँटी पर तो कोई वस्तु नहीं रह गई?' और नौकर जब यह कह दे कि 'अब कमरा सर्वथा निर्वस्तु हो गया है' और आप सन्तुष्ट हो जायँ, तो क्या इसका यह प्रयोजन है कि सचमुच कमरे में कुछ नहीं रहा? सुनिये, कमरा सर्वथा निर्वस्तु होने पर भी उसमें वायु तो है ही।

इस प्रकार मन के अन्दर से अपने अभ्यास से धीरे-धीरे जब एक-एक करके संकल्पों-विकल्पों को निकालते चले जाएँगे और सांसारिक विषयों का सारा कूड़ा-कबाड़ आप निकाल देंगे एवं मन सर्वथा निर्मल और निर्विषय हो जायेगा; तो यह निर्विषय तथा निर्मल मन ब्रह्म-तत्त्व से तो भरपूर होगा ही, ब्रह्म-तत्त्व को तो कहीं बाहर फेंका नहीं जा सकता। अतएव मन को निर्विषय करने का प्रयोजन यही है कि मन को बाह्य विषयों और अनात्म पदार्थों से खाली कर दिया जाये।

मन के खेल से सावधान!

जब साधक ध्यान में बैठता है तो मन अपना और ही व्यापार आरम्भ कर देता है। साधक आज्ञा-चक्र में ओ३म् पर ध्यान जमाना चाहता है और मन रसोईघर में पहुँच जाता है अथवा किसी और स्थान पर चल देता है। एक साधक ने बतलाया कि ध्यान में बैठते-बैठते मैंने अनेक संकल्पों-विकल्पों से तो छुटकारा पा लिया है परन्तु अब एक पदार्थ पीछे पड़ा हुआ है। मैंने पूछा, क्या है वह? साधक

कहने लगा कि 'ध्यान में जब बैठता हूँ तो मन सिद्धि प्राप्त करने में लग जाता है—मैं बैठा हूँ, संसार के नाना दुःखों से पीड़ित लोग मेरे पास आ रहे हैं। एक पेट-पीड़ा से तड़पता युवक आया। मैंने उसके पेट पर हाथ रखा और पीड़ा शान्त हो गई। दस-पन्द्रह अन्धे आये, मैंने उनकी आँखों पर अपने हाथ से जल-सिंचन किया और उनको दृष्टि मिल गई। एक माता का एकमात्र बालक मर गया था, वह रुदन कर रही थी। मैंने उसके बालक को पुनर्जीवित कर दिया, इत्यादि कितने ही ऐसे दृश्य सामने आ जाते हैं—'दूसरों के दुःखों और पीड़ाओं को दूर करने की भावना अच्छी ही है, परन्तु यह भी तो सब भौतिक पदार्थों ही का चिन्तन है। ऐसी सिद्धियों की भावनाएँ भी मन को निर्विषय नहीं होने देतीं। ऐसे सारे संकल्पों से पल्ला छुड़ाना होगा, तभी मन निर्विषय होगा।

जो साधक नाना प्रकार के चित्रों द्वारा मन को एकाग्र करने का यत्न करते हैं, वे बतलाते हैं कि ध्यान में उनके सामने अपने ही कल्पना किये चित्र आते रहे हैं। कभी गंगा प्रवाहित हो रही है, कभी पर्वत खड़े दृष्टिगोचर होने लगते हैं, कभी देवी-देवताओं के चित्र और कभी अपना ही चित्र, कभी किसी प्यारे मित्र या सम्बन्धी का चित्र दिखाई देने लगता है तो कभी गुरु जी का। यह तो सारी मन की कल्पनामात्र है, मन की एकाग्रता नहीं। मन की एकाग्रता तो तभी होगी जब इसे निर्विषय कर दिया जायेगा। हाँ, यह इतनी एकाग्रता तो है कि एक के अतिरिक्त मन और कहीं भटकता नहीं, परन्तु यह एकाग्रता अभी अधूरी है।

ध्यान की विधि—प्राणायाम-सहित

ध्यान किस प्रकार किया जाय कि पूर्ण सफलता मिल जाय ? इस सम्बन्ध में प्रभुभक्त उद्धव जी और भगवान् कृष्ण जी का संवाद अच्छा पथ-प्रदर्शन करता है। भक्त उद्धव ने जब पूछा कि ध्यान किस प्रकार और कैसे करना चाहिए ? तब भगवान् कृष्ण ने बताया कि :

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावत्संग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरककुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ।।
हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम् ।।

'सुखपूर्वक आसन में (किसी भी प्रकार के आसन में) दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रखके सीधा बैठकर, दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करके, पहले बार-बार रेचक-पूरक करके नाड़ी शुद्ध कर लेनी चाहिए अथवा प्रणव (ओम्) के जप के साथ रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए। प्राण के रोध से जब मन शान्त हो जाय तब हृदय-कमल में निहित ओंकार का ध्यान करके अनाहत ध्वनि, ओंकार एवं घण्टादि नादों का श्रवण करना चाहिए। इस प्रकार प्रतिदिन ओम् जप के साथ रेचक, पूरक, कुम्भक, इन तीन प्रकार से प्राणायाम का अच्छी तरह अभ्यास करते रहने से प्राण का निरोध होने लगता है और मन शान्त होने लगता है।'

ध्यान करते समय चाहे नासिका के अग्रभाग में, चाहे भृकुटि में या ललाट-चक्र वा ब्रह्मरन्ध्र अथवा हृदय-प्रदेश में वृत्ति को ले-जायँ। इसमें बहुत अन्तर नहीं पड़ता। हाँ, यह अवश्य होना चाहिये कि जहाँ एक बार ध्यान लगाना आरम्भ किया, फिर निरन्तर उसी स्थान पर ध्यान लगाएँ। इसे इधर-उधर जाने न दें अन्यथा यह मन ध्यान में भी अपनी चाल चल जाता है। कभी एक स्थान में, फिर झट दूसरे स्थान पर ले जाता है। साधक समझता है, ध्यान लगा हुआ है परन्तु मन भ्रम में डाले रखता है। अतएव पूरी दृढ़ता से एक ही स्थान को केन्द्र बना लीजिये और वहीं मन को मज़बूत बाँध दीजिये।

बिना ज्ञान ध्यान नहीं

यह तो हुई ध्यान की स्थूल-विधि। अब कुछ आगे बढ़िये और ज्ञान द्वारा ध्यान में प्रवेश कीजिये।

'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में महर्षि दयानन्द ने ध्यान की विधि यह लिखी है :

"धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के

योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उसके प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार, प्रेम और भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है।"

"नास्ति ध्यानं विना ज्ञानम्।"

'ज्ञान के बिना ध्यान नहीं हो सकता।' ज्ञान ही संसार-सागर से तारनेवाला है। ज्ञान और योगाभ्यास, जब इन दोनों का आश्रय ले लिया जाता है तब मन प्रसन्न रहने लगता है और प्रसन्नता मन को एकाग्रता में बाँधने लगती है। मन तो संसारी चिन्ताओं में ग्रस्त हो और उसको ध्यान में लगाना चाहें तो चिन्तित मन जब ध्यान में लगेगा तब वहाँ यह चिन्ताओं के ढेर जमा कर देगा और साधक और भी अशान्त हो उठेगा। अतएव पहले ज्ञान द्वारा इस सारे संसार-चक्र को बुद्धि में बिठा लीजिये और ज्ञान से यह भी जान लीजिये कि यह जो त्रिगुणात्मक प्रकृति से बना संसार है, इसी प्रकृति से बना यह मन भी है। मन तब इन तीन गुणों के द्वारा क्या-क्या खेल खेलता है इसका भी ज्ञान प्राप्त कर लीजिये; और इन्हीं तीन गुणों की कृपा से यह जो चिन्ताओं, दुःखों और संकल्पों की सृष्टि साधक रचता रहता है इसका सार क्या है? जब यह ज्ञान प्राप्त कर लिया जायेगा, तब साधक निश्चिन्त होकर ध्यान में संलग्न हो सकेगा। ज्ञान के कुछ रहस्यों का वर्णन यहाँ अत्यावश्यक है, अतएव इन्हें प्रकट किया जाता है :

(१) शरीर अथवा मन में जो गुण प्रधान है उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। यदि सत्त्वगुण प्रधान है तो ध्यान-अवस्था शीघ्र प्राप्त होने लगती है; रजोगुण प्रधान हो तो पर्याप्त बल लगाना होता है, तमोगुण यदि प्रधान हो तो निद्रा आ घेरती है। यत्न यही होना चाहिये कि ध्यान में बैठने से पूर्व शरीर तथा मन सत्त्व गुण से पूर्ण हो जायें।

सृष्टि-रचना से लय

(२) सृष्टि-रचना की अद्भुत क्रिया को सामने लाकर देखिये कि यह संसार कितना विशाल है। इस सृष्टि को बने अरबों वर्ष व्यतीत

हो गये, परन्तु मनुष्य इसके एक अंग का भी अभी तक पता नहीं पा सका। सारी सृष्टि तो एक ओर रही, केवल इस पृथिवी का ज्ञान भी मनुष्य प्राप्त न कर पाया। यह पृथिवी तो क्या, इसके जल अथवा स्थल-विभाग से भी यह पूर्णरूपेण परिचित नहीं हो सका। इसके पर्वत, इसके वन, इसके समुद्र, इसके मरुस्थलों का भी पूरा ज्ञान अभी तक मनुष्य को नहीं हो सका। वनस्पतियों को लें तो इनमें से सहस्रों ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में मनुष्य कुछ भी नहीं जानता। और तो और, मनुष्य अपने ही शरीर का पूरा ज्ञान अभी प्राप्त नहीं कर पाया। इतनी बड़ी सृष्टि का ज्ञान तो इसे प्रलय-काल तक भी न हो सकेगा। तब यह नन्ही-सी मानव-देह इस विशाल सृष्टि के सामने क्या है? और फिर इस सृष्टि का अधिष्ठाता परमात्मा तो इस सृष्टि से भी परे तक है। उसकी महानता का क्या ठिकाना!

उसकी एक नन्ही-सी सामर्थ्य ने इस सारे दृश्यमान संसार को हमारे सामने ला खड़ा किया। क्या था यहाँ पर? सर्वथा अभाव का दृश्य था। यहाँ केवल सोई हुई प्रकृति थी—सर्वथा अव्यक्त, शान्त और निस्तब्ध! यह व्यक्त कैसे हो गई? परमात्मा के संकेत-मात्र से। प्रकृति में परमात्मा के सामर्थ्य से क्रिया उत्पन्न हुई और उस क्रिया का परिणाम 'महत्' था। यह 'महत्' प्रकृति का पहला रूपान्तर है। तब महत् से अहंकार उत्पन्न हुआ, अहंकार से पंच तन्मात्र पैदा हुए। ये पंच तन्मात्र क्या हैं? इन्हीं का नाम शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र और गन्ध तन्मात्र हैं। इन्हीं ५ तन्मात्राओं से पाँच महाभूत—(१) आकाश, (२) वायु, (३) अग्नि, (४) जल, (५) पृथिवी उत्पन्न हुए। इन पाँचों महाभूतों के पाँच गुण (१) शब्द, (२) स्पर्श, (३) रूप, (४) रस और (५) गन्ध भी साथ ही आये।

अहंकार ने जहाँ यह किया वहाँ ग्यारह इन्द्रियाँ भी प्रकट कीं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और ११वाँ मन।

बस, इतना ही यह सारा संसार है। परन्तु अव्यक्त प्रकृति से लेकर मन इत्यादि इन्द्रियों तक, यह सब-का-सब जड़ ही है। पर जड़ स्वयं तो कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकृति की विकृति और अव्यक्त

को व्यक्त करनेवाला एक चेतन तत्त्व आत्मा है। सारी सृष्टि के अन्दर तथा बाहर भी ओत-प्रोत जो तत्त्व है, उसे ब्रह्म-तत्त्व या परमात्मा कहते हैं और जो शरीरधारी प्राणियों का अधिष्ठाता है उसे आत्म-तत्त्व या जीवात्मा कहते हैं।

जिस 'महत्' से अहंकार, पंच तन्मात्र और फिर पाँच महाभूत और इन्द्रियाँ बन गईं, वही 'महत्' मानव-देह में बुद्धि या अन्तःकरण बना बैठा है। यह सारा सृष्टि-क्रम सामने ले आइये और तब इस प्रपंच की विशालता पर एक गम्भीर दृष्टि डालकर कुछ समय के लिए प्रभु की इस अद्भुत रचना को देखते रहिये।

यह सौर-ब्रह्माण्ड जिसके मध्य में सूर्य है और उसके चारों ओर बुध, शुक्र, मंगल, पृथिवी इत्यादि ग्रह अपने-अपने चन्द्रमाओं सहित हैं, जिसका व्यास (घेरा) अन्तिम ग्रह तक ५५ अरब १८ करोड़ मील है। यह सब समष्टि जगत् की अपेक्षा इतना है, जितना पुरुष की अपेक्षा वह धूलि है जो तीन बार पैर रखने से पाँवों में लग जाय। समष्टि जगत् का प्रमाण इतना बड़ा है कि मनुष्य की बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती। सहस्रों नक्षत्र जो अत्यन्त दूर हैं, वे हमें चमकते हुए नन्हे-नन्हे सितारे प्रतीत होते हैं। बड़ी-से-बड़ी दूरबीन से भी वे ज्योति के बिन्दु ही दिखाई देते हैं। वास्तव में वे सूर्य से कई गुणा बड़े हैं। सूर्य पृथिवी से १३ लाख गुणा बड़ा है। अगस्त्य तारा सूर्य से एक करोड़ गुणा बढ़ा है। जो नक्षत्र सौर-ब्रह्माण्ड के बहुत समीप हैं वे भी इतनी दूर हैं कि उस दूर के मण्डल में सात खरब ६६ अरब सौर-ब्रह्माण्ड समा जायें। कितना बड़ा है यह संसार!

देखते-देखते जब इस विशाल संसार की कोई सीमा दृष्टिगोचर न हो तो जैसे सृष्टि के बनने का क्रम आप अपने सामने लाये थे, अब उसका लय होते हुए देखिये।

धीरे-धीरे उसी क्रम से पाँचों महाभूत सूक्ष्म होते चले जा रहे हैं। पंचभूत के अपने-अपने रूप में आने से पूर्व सारा दृश्यमान जगत् बदल रहा है। कोई भी अपना रूप स्थिर नहीं रख सका। न वृक्ष रहे, न पर्वत, न सूर्य रहा, न चन्द्र, न कोई और नक्षत्र। रह गये पंच तन्मात्र।

अब वे सूक्ष्म भूत भी समाप्त हो रहे हैं, इन्द्रियाँ भी गुम हो रही हैं, रह गया है केवल अहंकार। इस अहंकार को अब महत् में लय होता देखिये। महत् में सब-कुछ समा जाने के पश्चात् अब महत् भी कहाँ रहा? वह भी तो प्रकृति में चला गया। यह प्रकृति, इस प्रकृति को सीमित में लाने की सामर्थ्य रखनेवाला परमात्मा और गाढ़ निद्रा में जाता हुआ जीवात्मा, बस ये ही तीन रह गये।

सृष्टि का बनना और बनकर फिर प्रलय-अवस्था में चले जाना, यह सारा दृश्य तथा विज्ञान ध्यान के नेत्रों से अनुभव किया जाय तो मन शान्त होने लगता है। मन को एकाग्र करने का यह एक अचूक साधन है; परन्तु जो कुछ ऊपर कहा गया है वह एकाग्रता की ओर जाने की अभी पहली मंज़िल है, अभी कुछ मार्ग और चलना है।

(३) एकान्त-शान्त स्थान में या मकान के सर्वथा अकेले कमरे में, निश्चिन्त होकर आप एक आसन में बैठे हैं। आपकी पीठ तथा ग्रीवा सीधी है, शरीर अधिक अकड़ा हुआ नहीं। आप तन्मय होकर ऊपर का सृष्टिक्रम अपने ध्यान में ला रहे हैं। आपने जब सृष्टि को प्रलय तक पहुँचा देख लिया तो अब ध्यान में किसी भी दृश्य को आने न दें। जैसे शरीर एकान्त में बैठा है, इसी प्रकार मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को भी एकान्तवासी बना दीजिये। इन्द्रियों का एकान्त तभी होगा जब कोई विषय उनके पास न होगा। मन तभी एकान्त होगा जब संकल्पों-विकल्पों तथा इच्छाओं का जमघट मन में न रहेगा। बुद्धि तभी एकान्त होगी जब संसार के प्रपंच उसके पास न रहेंगे। शरीर-सहित मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ नितान्त एकान्त-सेवी हो जायें। आपने धारणा यह करनी है कि सृष्टि-क्रमानुसार जब कोई दृश्यमान पदार्थ नहीं रहा—स्थूल महाभूत सूक्ष्म हो गये, वे सूक्ष्म भूत जिन्हें तन्मात्र कहते हैं, अहंकार में लोप हो गये, इन्द्रियाँ भी अहंकार में समा गईं, और अहंकार भी महत् में गुम हो गया तथा महत् प्रकृति में जा समाप्त हुआ, फिर यह सुनना, यह छूना, यह देखना, यह चखना, यह सूँघना कहाँ रह गया? इस प्रकार का दिव्यज्ञान मन की चंचलता को मिटाने में बड़ा सहायक बनता है। यह अनुभव किया जा चुका है कि नितान्त एकान्त

स्थान में सृष्टि-विज्ञान को ध्यान में लाने से मन स्वयमेव लय होने लगता है।

अघमर्षण मन्त्र से ध्यान-अवस्था

(४) कई लोग पूछा करते हैं कि महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने सन्ध्या में जो तीन अघमर्षण मन्त्र लिखे हैं, उनकी क्या आवश्यकता थी ? फिर इन मन्त्रों से पाप कैसे कट जाते हैं ? इन तीन मन्त्रों में सृष्टि-उत्पत्ति ही का क्रम भगवान् वेद ने बतलाया है और उपासक के हृदय पर यह अटल सत्य अंकित किया है कि सारा दृश्यमान जगत् परमात्मा ही के वश में है। उसी परमात्मा की सामर्थ्य से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। यह जितना सृष्टि-क्रम का नियम है, ये सारे भूतों के जो-जो गुण हैं, ये सब परमात्मा के नियमानुसार हैं। ऋत कहते हैं सृष्टि-नियम (Laws of Nature) को और सत्य कहते हैं धर्म को।

सृष्टि में जो-जो प्राकृतिक घटना हो रही है, वह सब अटल नियम के अधीन है। क्या कोई वैज्ञानिक पीपल के बीज से आम उत्पन्न करने में आज तक सफल हुआ है ? जो नियम, जो मर्यादा परमात्मा ने बाँध दी है, उसे कोई लाँघ नहीं सकता। जन्म, मरण, स्थिति तथा रक्षा आदि भी सब नियमानुसार ही हो रहा है। अग्नि का धर्म जलाना है तो यह जलायेगी ही। सूर्य का धर्म उदय होना, गर्मी और प्रकाश देना है तो सूर्य ऐसा करेगा ही। जितने भी प्राकृतिक नियम या कानून हैं उनको एक मनुष्य जितना हृदयङ्गम करके उनके अनुसार या प्रति-पल आचरण करता है, उतना ही वह सुखी या दुःखी होता है। जिस प्रकार परमात्मा ने प्रकृति से बनाये सारे पदार्थों, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्रिय, वनस्पति इत्यादि के नियम बना दिये हैं, उसी प्रकार धर्म के भी नियम बना दिये हैं। जैसे प्राकृतिक नियम अटल हैं, वैसे धर्म के नियम भी अटल हैं।

सत्य-भाषण धर्म है; असत्य-भाषण अधर्म है। परहित तथा परोप-कार धर्म है; परहानि, परनिन्दा, परपीड़ा अधर्म है। इसी प्रकार और अनेक नियम हैं। धर्म से मनुष्य का हृदय स्वयमेव प्रसन्न होगा और

अधर्म से नीच संस्कार मन को आ घेरेंगे। यहीं से दुःख की सृष्टि प्रारम्भ हो जायेगी। उपासक जब ऋत और सत्य के सम्बन्ध में विचार करता है तो वह पाप से बचने लगता है, सृष्टि-नियमों का ज्ञान प्राप्त करके उनसे लाभ उठाकर सुखी होता है, पाप तो तब अपने-आप कटने लगते हैं।

फिर इन अघमर्षण मन्त्रों में परमात्मा की बड़ी भारी सामर्थ्य का वर्णन करने के लिए यह बतलाया है कि यह सारा दृश्यमान जगत् सोया पड़ा था, कुछ भी नहीं था। प्रलय की यह महारात्रि परमात्मा के संकेत ही से थी और प्रलय की उस महारात्रि में प्रभु-सामर्थ्य से फिर जागृति आने लगी। प्रकृति ने महत् का या विराट् का रूप धारण किया। विराट् से पहले की अवस्था 'एक लहराता हुआ समुद्र' (समुद्रात्, अर्णवात्) था। यह लहराता समुद्र प्रकृति की वह अवस्था है जब वह द्रवावस्था में प्रभु-सामर्थ्य से लाई गई। 'तब वर्ष उत्पन्न हुआ।' यह वर्ष हमारा १२ महीनोंवाला वर्ष नहीं, अपितु इससे वह दीर्घकाल अभीष्ट है जिस लम्बे काल तक वह लहराता हुआ समुद्र—'द्रवीभूत प्रकृति' एक समष्टि गोला बन जाता है। अंग्रेजी में इसी को 'Cyclic motion' कहा जाता है। उसके पश्चात् ये सूर्य, चन्द्र इत्यादि फिर प्रकट हुए, वनस्पतियाँ और दूसरे सारे पदार्थ भी। इतना महान् कार्य केवल एक सीमित-सी सामर्थ्य ही से परमात्मा ने कर डाला। यह अनुभव साधक के मन को परमात्मा की महान् शक्ति का साक्षात् करा देता है; इससे मन उसी परमात्मा के विचार से बँध जाता है। संसार के शेष सारे पदार्थ साधक को तुच्छ नज़र आने लगते हैं। मन उनको परिवर्तनशील देखकर उनसे उपराम होता है और अटल रहने-वाले भगवान् के विचार में टिकने लगता है। ज्ञान द्वारा ध्यान-अवस्था में पहुँचने का यह एक साधन लिखा गया है।

ओ३म् जप से ध्यान-अवस्था

(५) एक और साधन ध्यान-अवस्था में पहुँचने के लिए यह है कि ओ३म् शब्द के उच्चारण और ओ३म् के नाद में अपने-आपको खो

देना। उपनिषद्[1] ने तो ओ३म् ही का ध्यान करने का आदेश किया है। वेद भगवान् ने भी कर्मशील मानव को यही आज्ञा दी है कि ओ३म् का स्मरण करो।[2] ओ३म् के नाद के सम्बन्ध में शौनकाचार्य तथा श्री सूत जी का संवाद बड़ा रहस्य उद्घाटन करता है। 'श्रीमद्भागवत' के द्वादश स्कन्ध से वह प्रकरण यहाँ दिया जाता है :

समाहितात्मना ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते ॥ ३७ ॥
यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥ ३८ ॥
ततोऽभूद् त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्।
यत्तल्लिंग भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ ३९ ॥
स्वाधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः।
स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम् ॥ ४० ॥

भागवत १२। ६ ॥

'हे ब्रह्मन्! शौनक! जब परमेष्ठी ब्रह्मा ने अपनी चित्तवृत्ति का अवरोधन किया तब उसके हृदयाकाश से नाद उत्पन्न हुआ जो नाद ब्रह्मा को चित्तवृत्ति के रोकने से प्रतीत होने लगा ॥३७॥

हे ब्रह्मन्! जिसकी उपासना से योगीजन अपने सारे मल को शुद्ध करके मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥३८॥

वह नाद अ, उ, म् तीनों अक्षरों से युक्त 'ओ३म्' स्वरूप में प्रकट हुआ, जिसकी उत्पत्ति अव्यक्त है और जो स्वयं विराजमान है तथा भगवान् परमात्मदेव ब्रह्म का चिह्न अर्थात् नाम है ॥३९॥

हे शौनक! परमात्मदेव ब्रह्म का साक्षात् वाचक 'ओ३म्' ही शब्द है। वही सर्वमन्त्र और उपनिषद् तथा वेदों का बीज है, वही सनातन है' ॥४०॥

---

१. ओ३मित्येवं ध्यायथ आत्मानम्। (मुण्डक)
परमात्मा का ओ३म् पद के द्वारा ध्यान करो।

२. ओ३म् क्रतो स्मर (यजु० ४०। १५)
हे कर्मशील! ओ३म् का स्मरण कर।

ओ३म् का नाद ध्यान बाँधता है

इसी प्रकार भागवत के ११वें स्कन्ध में भी ओंकार के उच्चारण द्वारा प्राणायाम करने का आदेश दिया है :

हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम् ॥३४॥
भाग० ११ । १४ ॥

'हृदय में घण्टानाद के समान ओंकार का अविच्छिन्न पद्मनालवत् अखण्ड उच्चारण करे। प्राण-वायु की सहायता से बारम्बार ओ३म् का उच्चारण करके पुनः-पुनः हृदय के आभ्यन्तर गिराता जाय।'

ऐसी साधना ओ३म् शब्द द्वारा करने से क्या होता है ? इसका उत्तर ११वें स्कन्ध, अ० १४ के इस श्लोक में दिया है :

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥४६॥

'इस तीव्र ध्यान से योगी का मन शीघ्र शान्ति को प्राप्त होता है और सारे सांसारिक भ्रम भी दूर हो जाते हैं।'

भागवत में ओ३म् नाद द्वारा मन को एकाग्र तथा शान्त करने की जो साधना बतलाई है, इसका अनुभव किया गया है और इसे बड़ा उपयोगी पाया गया है। इस साधना के ढंग से थोड़ा-सा हठ-योग का प्रयोग करना पड़ता है। वह इस प्रकार है कि एकान्त स्थान में निश्चिन्त बैठकर पीठ-ग्रीवा सीधी रखकर दोनों कानों को दोनों हाथों के अंगूठों से अच्छी प्रकार बन्द कर दो या मोम-मिश्रित रुई से दोनों कानों के छिद्र बन्द कर दो, मुख बन्द रखो। मन में ओ३म् का उच्चारण करते हुए नासिका से शब्द करते-करते प्राण बाहर निकालो। प्राण बाहर जा रहा हो और साथ ही प्राण में ओ३म् के शब्द की आवाज़ भी हो। पर्याप्त लम्बा उच्चारण करो। पुनः नासिका ही से प्राण अन्दर ले-जाते हुए हो सके तो आवाज़ से ओ३म् का उच्चारण करो। ओ३म्-ओ३म् की इस ध्वनि को तब हृदय में ले-जाकर छोड़ दो, फिर हृदय से नाद तथा प्राण उठाकर नासिका से शब्द करते हुए ओ३म् का उच्चारण करो। इस प्रकार यह क्रम जारी रखो और प्राण

तथा नाद जब अन्दर जायँ तो इन्हें हृदय में जाकर रख दो। ऐसा साधन करने से एक-दो सप्ताह ही में भीतर से ओ३म् का नाद स्वयमेव स्पष्ट सुनाई देने लगता है। उस समय मन एक अद्भुत शान्ति तथा एकाग्रता का आस्वादन करने लगता है।

प्राण-स्पन्दन के निरोध से मन लय होता है और इन प्राणों का निरोध ओ३म् के उच्चारण से जिस प्रकार होता है, उसका वर्णन 'योगवासिष्ठ' में किया गया है :

ओंकारोच्चारणसान्तशब्दतत्त्वानुभावनात् ।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥२१॥

'उच्च स्वर से ओ३म् का उच्चारण होने पर सान्त में (अन्त्य में) जो शेष तुर्यमात्रा रूप शब्द-तत्त्व अनुभूत होता है, उसका अनुसन्धान करने से बाह्य विषयों के विज्ञान का (बहिर्मुख चित्त-वृत्ति का) जब अत्यन्त उपराम हो जाता है तब प्राण-वायु का स्पन्दन रुक जाता है।'

प्राण-स्पन्दन के निरोध का एक और उपाय भी गुरु वसिष्ठ ने बतलाया है :

यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात् ।
एकतत्त्वघनाभ्यासात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

योगवा० उपशम प्र०, स० १८ । १९ ॥

'चिरकाल-पर्यन्त एकाग्र रूप परिणाम को प्राप्त कर उदित हुए अभिवाञ्छित ध्यान से (जहाँ कहीं इच्छा हो उसी स्थान पर ध्यान करने से) जो एक वस्तु-स्वरूप का निरन्तर पुनः-पुनः अनुसन्धान होता है, उसी अनुसन्धान से प्राण का निरोध हो जाता है।'

ओ३म् जप से एकाग्रता और विघ्नों का नाश

'योगदर्शन' में तो अतिशीघ्र मन की एकाग्रता प्राप्त करने का सरल सीधा साधन ओ३म् का जप और ओ३म् के अर्थ का चिन्तन बतलाया है। 'योगदर्शन' के समाधिपाद में लिखा है :

तज्जपस्तदर्थभावनम् । योगदर्शन १ । २८ ॥

'उस ओ३म् का जप और उस ओ३म् के अर्थभूत ईश्वर का पुनः-पुनः चिन्तन करना चाहिये।'

इस ओ३म् का जप तथा ओ३म् के अर्थ-चिन्तन का फल यह लिखा है :

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ १ । २९ ॥

'उक्त स्थान से विघ्नों का अभाव और आत्मा के स्वरूप का ज्ञान भी होता है ।'

इतना बड़ा महत्त्व ओ३म्-जप तथा ओ३म् के अर्थों के चिन्तन का है । मन की एकाग्रता को प्राप्त करने के यत्न में जो साधक कटिबद्ध होते हैं, उनके मार्ग में नाना विघ्न भी आकर खड़े हो जाते हैं। उन्हीं विघ्नों की ओर ऊपर के सूत्र में संकेत किया गया है और इससे अगले दो सूत्रों में (३० तथा ३१ में) उन १४ विघ्नों तथा दोषों का वर्णन है जो योगी को सताते हैं । वे ये हैं :

(१) व्याधि=शारीरिक रोग, (२) स्त्यान=योग-साधनों में प्रवृत्ति न होना, (३) संशय,(४) प्रमाद, (५) आलस्य, (६) अविरति=वैराग्य का अभाव अर्थात् विषयों में आसक्ति, (७) भ्रान्ति-दर्शन=मिथ्या ज्ञान और ऊटपटाँग विचार, (८) अलब्ध-भूमिकत्व=साधन करने पर भी कोई स्थिति प्राप्त न होना, (९) अनवस्थितत्त्व=ज्योतिदर्शन होकर ज्योति का लुप्त हो जाना, (१०) दुःख=आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख, (११) दौर्मनस्य=जब इच्छा की पूर्ति न हो तो मन में एक प्रकार की अशान्ति या बेचैनी हो जाना, (१२) अंगमेजयत्व=शरीर के अंगों में कम्पन होना, (१३) श्वास=भीतरी कुम्भक में विघ्न होना, (१४) प्रश्वास=बाहरी कुम्भक में विघ्न होना ।

ये सारे-के-सारे दोष या विक्षेप भी ओ३म् के जप और परमात्म-तत्त्व का चिन्तन और ध्यान करने से दूर हो जाते हैं । 'योग-दर्शन' के बतलाये इस सरल, सुगम, सीधे मार्ग पर चलकर देखिये तो सही कि आपको ध्यान-अवस्था प्राप्त होती है या नहीं ।

ओ३म्-जप की महिमा में इतना ही कहना पर्याप्त है कि :

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिः पुनःपुनः ।

'मन्त्र-जप सर्व सिद्धियों का अचूक मार्ग है ।'

ओ३म् का जप ओ३म् का अर्थ समझते हुए जब अनन्यभाव से किया जाय तो मन की चंचलता मिटने लगती है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि जिसका स्मरण तथा जप बार-बार किया जाता है, उसके कुछ गुण उपासक में धीरे-धीरे आने लगते हैं। मनोविज्ञान के पण्डितों ने भी ये परीक्षाएँ की हैं और वे बतलाते हैं कि किसी भी बात की सूचनाएँ (Suggestion) बार-बार दुहराने से वे पुष्ट होती जाती हैं और कल्पना विश्वास के रूप में परिवर्तित होकर मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही हो जाता है। साधक जब ओ३म् का जप करता है और वह अन्तःकरण से अनुभव करता है कि यह ओ३म् पवित्र है, निश्चल है तो साधक के अन्दर पवित्रता आने लगती है और उसका मन अचल होने लगता है।

'ध्यानबिन्दूपनिषद्' में भी ओंकार (ओ३म् नाम) द्वारा ध्यान अवस्था में पहुँचने का विधान किया गया है :

ओंकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः।
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ॥१४॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।
निवर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥१५॥

'जो ओ३म् को नहीं जानता वह ब्रह्म को नहीं प्राप्त हो सकता। ओ३म् धनुष है, आत्मा स्वयं तीर है, ब्रह्म लक्ष्य है ॥१५॥

जैसे एक तीरन्दाज़ निशाना लगाते समय तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार ओ३म् की उपासना में तन्मय हो जाना चाहिये। ओ३म् के अतिरिक्त और कोई संकल्प-विकल्प चित्त में न आने पाय, फिर जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त हो जायेगा' ॥१५॥

यही बात 'प्रश्नोपनिषद्' के ५वें प्रश्न में अधिक सुन्दरता से बतलाई गई है, वह प्रसंग 'प्रश्नोपनिषद्' से पढ़ना चाहिये।

इसी प्रकार 'ब्रह्मविद्योपनिषद्' में ओ३म् की ध्वनि में मन को लय करने का आदेश है :

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये।
ओंकारस्त तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥ १२ ॥

'अभ्यास में जब अनहद शब्द प्रकट होता है तो उस अनहद शब्द में चित्त को शान्त करनेवाला घड़ियाल का शब्द सुनाई देता है। इसी प्रकार ओ३म् का ध्यान करने में चित्त लगाये। ओ३म् की यह ध्वनि चित्त को अधिक शान्ति देनेवाली है।'

महर्षि दयानन्द का आदेश

महर्षि स्वामी दयानन्द जी 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' के उपासना विषय में ओ३म् जप के सम्बन्ध में लिखते हैं :

"अब उसकी भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं उनमें ओंकार सबसे उत्तम है। इसलिए इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और इसी का अर्थ-विचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो, जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमात्मा की प्रेम-भक्ति सदा बढ़ती जाये।"

ओ३म् के जप तथा स्मरण, ओ३म् के अर्थ पर विचार तथा उसकी महिमा, लीला, भारी सामर्थ्य देखते-देखते साधक जब अपने-आपको उसी में खो देता है तो साधक के हृदय में 'परमात्मा का प्रकाश' आने लगता है, फिर ध्यानावस्थित होने का समय आ जाता है। वह अवस्था जब आती है तो फिर क्या होता है? महर्षि दयानन्द का अनुभव पढ़िये :

"जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्नि का रूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भूले हुए के समान जानके आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप ज्ञान से परिपूर्ण करने को 'समाधि' कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो 'ध्यान करनेवाला, जिस मन से, जिस चीज़ का ध्यान करता है' ये तीनों विद्यमान रहते हैं, परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहाँ तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा

समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होकर फिर बाहर को आ जाता है।" (ऋ० भा० भू०)

केवल ध्यान

महर्षि दयानन्द ने अपने अनुभव से ध्यान की एक ऊँची अवस्था का रहस्य साधकों के सामने खोल दिया है। यहाँ तक पहुँचने के लिए जो यम-नियम पालन किये, प्राणायाम किये, गायत्री-जप अथवा ओ३म्-जप किये, मनके जो निरोध के और साधन किये, वे सब-के-सब इसी अवस्था तक पहुँचने के लिए हैं। इस अवस्था से पूर्व की एक और अवस्था यह है :

न प्राणायाम है अब, न जप है अब, न मन को लगाम देने की क्रिया है अब। अब है केवल ध्यान। यह ध्यान केवल गुरुगम्य है। गुरु-कृपा हो तो वह अपनी शक्ति द्वारा साधक को केवल ध्यान-अवस्था में ले आते हैं और साधक पहली श्रेणियों में उत्तीर्ण हो चुका हो तो वह गुरु से मिली शक्ति द्वारा आगे-ही-आगे बढ़ता चला जाता है। उसने यदि पहली श्रेणियाँ पास नहीं कीं तो वह शक्ति बिखर जाती है और साधक फिर पहले स्थान पर ही अपने-आपको पड़ा पाता है। अतएव सारी मंज़िलों को पार करके ही 'केवल ध्यान' की घाटी पर चढ़ना लाभप्रद है।

: ५ :

जीवन के दो मार्गों का तत्त्व

जीवन के दो मार्ग

जीवन-यात्रा करते हुए कई बार यात्री ऐसे स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ एक के स्थान पर कितने ही मार्ग इधर-उधर जाते हुए दृष्टि-गोचर होते हैं। यात्री तब निश्चित नहीं कर पाता कि किस पथ पर चलूं। एक मार्ग वृक्षों, लताओं, पुष्पों से सुशोभित बड़ा सुन्दर दिखलाई देता है; दूसरा ऊबड़-खाबड़, शुष्क और भयानक प्रतीत होता है, परन्तु उसपर लिखा है—इसी मार्ग पर चलकर अपने प्रियतम के निकट पहुँच सकोगे। पहले मार्ग पर लिखा है— आगे भय, नाश और मृत्यु है। अब किधर जाय ?

आगे पग उठाने से पूर्व

आगे पग उठाने से पूर्व विचार करो कि नाश—मृत्यु की ओर—जाना है या प्रियतम के द्वार पर पहुँचना है। यह निश्चय करने के लिए एक बार संसार के सारे सुन्दर दृश्यों के पीछे और अपने शरीर के अन्दर छिपी गन्दगी को देख लो एवं समझ लो कि जो कुछ जगत् में दिखलाई दे रहा है तथा लोक जिन तत्त्वों का बना है, मानव-शरीर भी उन्हीं तत्त्वों से बना है। लोक से यह शरीर कोई पृथक् धातु का नहीं बना हुआ, अपितु लोक तथा शरीर में बड़ी भारी समानता है।

महर्षि स्वामी दयानन्द 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' के उपासना विषय में लिखते हैं—"हृदय-देश में जितना प्रकाश है, वह सब अन्तर्-यामी परमेश्वर ही से भर रहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश तथा परलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजली और सब नक्षत्रलोक भी रह रहे हैं। जितने दीखनेवाले और नहीं दीखनेवाले पदार्थ हैं, वे सब उसी सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं।"

जो लोक में, वही शरीर में

आयुर्वेद के ग्रन्थ ने तो पूरे विस्तार से इसके सम्बन्ध में 'चरक-संहिता' शरीरस्थान ५।१ मे लिखा है—यह मनुष्य-शरीर लोकसंमित है अर्थात् जो लोक में है, वही शरीर में है।

धातु समुदित होकर लोक बनता है :

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और छठा ब्रह्म या परमात्मा। छः ही धातु मनुष्य-शरीर में हैं :

शरीर में पृथिवी—मनुष्य का आधार है।
शरीर में जल—क्लेद इत्यादि है।
शरीर में तेज—अभिसन्ताप है।
शरीर में वायु—प्राण है।
शरीर में आकाश—नाना छिद्र हैं।
शरीर में ब्रह्मस्थानी—जीवात्मा है।

इसी प्रकार अन्य वस्तुओं की तुलना कीजिये। भगवान् पुनर्वसु कहते हैं कि :

लोक (ब्रह्माण्ड) में इन्द्र है और मनुष्य में अहंकार है।
लोक में आदित्य, मनुष्य में आदान है।
लोक में रुद्र, मनुष्य में दोष है।
लोक में वसु, मनुष्य में सुख है।
लोक में मरुत्, मनुष्य में उत्साह है।
लोक में अश्विनीकुमार, मनुष्य में कान्ति है।
लोक में विश्वेदेवा, मनुष्य में सम्पूर्ण इन्द्रियाँ हैं।
लोक में तम, मनुष्य में मोह है।
लोक में ज्योति, मनुष्य में ज्ञान है।

इससे ही युगों का वर्णन भगवान् पुनर्वसु ने इस प्रकार किया है :
जैसा कृतयुग या सतयुग है, वैसी शरीर में बाल्यावस्था है।
जैसा त्रेतायुग है, वैसा शरीर में यौवन है।
जैसा द्वापर है, वैसी शरीर में स्थिरता है।

जैसा कलियुग है, वैसी शरीर में वृद्धावस्था है।
जैसे युगान्तर है, वैसे शरीर में मरण है।

ब्रह्माण्ड और पिण्ड की तुलना का प्रयोजन

यह तुलना तो समझ ली, परन्तु इस तुलना का प्रयोजन क्या है ? भगवान् पुनर्वसु से उनके शिष्य अग्निवेश ने पूछा कि इस सामान्य उपदेश का प्रयोजन क्या है ? तब भगवान् पुनर्वसु ने यह उत्तर दिया कि—अग्निवेश ! सब लोक को अपने में और अपने को सब लोक में देखने से आत्म-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है और वह अनुभव करता है कि आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता है, अन्य नहीं। और जब ज्ञान से जान लिया कि जैसे परमात्मा मारे तत्त्वों से अलिप्त रहकर आनन्दरूप ही रहता है, वैसे मैं भी पाँच तत्त्वों से अयुक्त रहकर अपवर्ग को प्राप्त हो सकूँगा—इसी ज्ञान से अल्पवर्ग का मार्ग खुल जाता है और वह स्पष्ट देखता है कि सुख-दुःख इत्यादि का मूल उपप्लवों की प्रवृत्ति, निवृत्ति, और उपराम है। प्रवृत्ति दुःख का कारण बनती है और निवृत्ति सुख का कारण—यह जो ज्ञान उत्पन्न होता है, यह सत्य है। वही प्रयोजन है—लोक तथा शरीर के सामान्य उपदेश का।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

यह उपदेश सुनकर अग्निवेश ने पूछा कि प्रवृत्ति का मूल क्या है और निवृत्ति का उपाय क्या है ? पुनर्वसु जी ने जो उत्तर दिया उसका सारांश यह है कि :

मोह, स्वार्थ, इच्छा, द्वेष, कर्म तो प्रवृत्ति के मूल हैं और इन्हीं से फिर अहंकार, संग, सन्देह और नाना प्रकार के विकारों की शाखाओं-वाला बड़ा भारी वृक्ष मनुष्य को ढक लेता है। तब दुःख ही व्यापने लगते हैं, क्योंकि दुःख पाप ही होते हैं और प्रवृत्ति पाप का मूल है। निवृत्ति अपवर्ग है। जहाँ तक हो सके, सांसारिक प्रपंचों से मन को अलिप्त रखें।

इस प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ही को प्रेय तथा श्रेय मार्ग कहा गया है। अब निश्चय कीजिये कि किस पथ पर चलना है ?

गुलबर्गा जेल में श्रेय-प्रेय मार्ग

गुलबर्गा (हैदराबाद दक्षिण) के जेल में जब आर्यसमाज की ओर से चलाये सत्याग्रह-आन्दोलन में मैं बन्दी था तो मुझे उसी कोठरी में रखा गया जहाँ श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी बन्दी थे। एक दिन इसी प्रवृत्ति-निवृत्ति या प्रेय-श्रेय मार्ग का प्रसङ्ग छिड़ गया तो इनके सम्बन्ध में महात्मा नारायण स्वामी जी ने जो व्याख्या की वह विशेष महत्त्व रखती है। अपनी नोटबुक की सहायता से महात्मा जी का वह आदेश यहाँ लिखता हूँ।

महात्मा जी ने बताया कि आत्मा की दो प्रवृत्तियाँ हैं—एक अन्तर्मुखी, दूसरी बहिर्मुखी।

जब वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तो केवल आत्मा-परमात्मा के अनुभव में ही रत रहने को चित्त चाहता है। सुन्दर-सुन्दर गाथा, सत्संग, प्रभु-भजन और फिर मनन तथा निदिध्यासन में ही वृत्ति टिकी रहती है—यह श्रेय मार्ग है। देखने को बड़ा शुष्क, बेढंगा, बिखरा, टेढ़ा, न पुष्प, न लता, न वृक्ष, न छाया। कौन चलायेगा इसपर ? वही, जिसका आत्मा अन्दर की ओर देखता है, जिसे बाहर के लुभानेवाले दृश्य अपनी ओर नहीं खींच सकते; इस पञ्चभौतिक चमत्कार की वास्तविकता को जो पहचान चुका है और इसकी असारता को भी भाँप चुका है।

तब यह गरीबदास के शब्दों में कहता है :

यह मन भंजन कीजिये रे नर ! बारम्बार।
साईं से कर मित्रता, बिसर जाय संसार ॥

नरसी मेहता की तरह (जब उसकी पत्नी-पुत्र सब मर गये तो) भक्त पुकार उठता है :

भलुं थयुं भांगी जंजाल।
सुखे भजीशुं श्री गोपाल ॥

'अच्छा हुआ जंजाल छूट गया, अब सुख से श्री गोपाल का भजन करूँगा।'

जिसकी वृत्ति बहिर्मुखी है उसके अन्दर क्या क्रिया होती है ? उसका क्रम यह है—आत्मा हमारी बुद्धि को प्रेरणा करती है, बुद्धि मन को, मन

ज्ञानेन्द्रियों को गति देता है, तब इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त हो जाती हैं और इन विषयों के जाल में फँसकर ज़न्म-मृत्यु के चक्कर ही में घूमना पड़ता है। यही प्रेय मार्ग है, इसी को प्रवृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति-मार्ग के यात्री के सम्बन्ध में कठोपनिषद् ने यह कहा है :

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥
कठ० २। ६॥

'अज्ञानी पुरुषों को (जो प्रमादग्रस्त, भोग और धन के मोह से मूढ़ हो रहे हैं) परलोक की बात पसन्द नहीं आती। ऐसे पुरुष जो केवल इसी लोक को माननेवाले (प्रवृत्ति-मार्गगामी) हैं उन्हें बार-बार मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है।'

स्वार्थमय संसार में तीन मार्ग

प्रवृत्ति-मार्ग पर चलनेवाले भी तीन प्रकार के यात्री होते हैं। यह तो स्पष्ट है कि यह जगत् स्वार्थमय है। इस स्वार्थ ही के कारण सारे सम्बन्ध, सारी मित्रता और सारे कार्य हैं। जब कोई सम्बन्धी—पिता, पुत्र, पत्नी, पति, माता, भाई मर जाता है तो रुदन होने लगता है। इसका कारण यह नहीं कि मरनेवाला प्राणी उन्हें बहुत प्यारा था, अपितु कारण यह है कि मरनेवाले के साथ परिवारवालों के स्वार्थ जुड़े थे और वियोग स्वार्थ-सिद्धि में बाधक होता है। वह स्वार्थ-हानि ही रुदन का कारण बनी। संसार में प्रतिदिन सहस्रों प्राणी मरते हैं परन्तु उनके मरने पर हमें ध्यान भी नहीं आता। क्यों ? उनके साथ कोई स्वार्थ तन, मन या धन का जुड़ा हुआ नहीं था। इससे प्रकट होता है कि जगत् स्वार्थमय ही है।

स्वार्थ भी तीन प्रकार का है और यात्री भी इन विभिन्न स्वार्थों के कारण तीन प्रकार के हैं। स्वार्थ का अर्थ है अपनी कामना या 'अपनी ग़रज़'। इसके तीन भेद ये हैं—(१) उत्कृष्ट, (२) मध्यम, (३) निकृष्ट।

(१) उत्कृष्ट स्वार्थ वह है जिसमें आत्मा स्वच्छ रूप में रहकर अपने अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है। इसमें सत्त्व गुण प्रधान होता है।

इन्द्रियों के विषय से अलिप्त रहकर केवल आत्मा के अर्थ की सिद्धि में मनुष्य तत्पर रहता है। जिस प्रकार से आत्मा उन्नत हो सके—पर-सेवा, परोपकार, दान, दया, यज्ञ, तप, त्याग, एकान्तवास इत्यादि का जीवन इस पहली कक्षा में आता है।

(२) मध्यम स्वार्थ वह है जिसमें आत्मा मन और दूसरी इन्द्रियों से युक्त होकर सम्मिलित अर्थ की सिद्धि करता है। मन की बात भी सुनी तथा मानी जाती है, इन्द्रियों को भी सन्तुष्ट करने का यत्न होता है, परन्तु साथ ही आत्मा की आवाज़ भी सुनी जाती है। आत्मा को भुला नहीं दिया जाता; आत्मा को भूखा नहीं मारा जाता; इसका भोजन अर्थात् आत्म-चिन्तन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-विश्वास उसे दिया जाता है। इस अवस्था में रजोगुण भी सत्त्वगुण के साथ-साथ चलता है।

(३) निकृष्ट स्वार्थ वह है जिसमें आत्मा मन और इन्द्रियों से युक्त होकर, ममता के वशीभूत होकर मन तथा इन्द्रियों ही के अर्थ की सिद्धि करता है। अब तमोगुण रजोगुण के साथ मिल जाता है, सत्त्वगुण दब जाता है और मन तथा इन्द्रियों के अधीन हुआ मानव इस प्रेय-मार्ग पर चलता हुआ अनेक कर्म ऐसे कर बैठता है कि मानव-शरीर ही से वंचित हो जाता है।

इस स्वार्थमय जगत् में भी उत्कृष्ट स्वार्थ तो अन्त में निवृत्ति-मार्ग पर ही पहुँचा देता है और मध्यम स्वार्थ भी बहुत हानि पहुँचाये बिना, आज नहीं तो कल मानव-जीवन के उद्देश्य के निकट पहुँचा ही देता है, परन्तु निकृष्ट स्वार्थ को अपनानेवालों के लिए तो कोई आशा रह ही नहीं जाती। वे तो घोर तमवाले लोकों ही में जायेंगे और वहीं उनका सुधार हो सकेगा।

कठोपनिषद् के दो मार्ग

कठोपनिषद् में भी मानव-जीवन के दो मार्गों का वर्णन आया है :

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

कठ० २। २॥

'श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य को प्राप्त होते हैं। वह धीरे-धीरे उन दोनों को भली-भाँति समझकर अलग-अलग करता है। धीर पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय को ले लेता है—अपना लेता है। मन्द पुरुष योगक्षेम से प्रेम को अपनाता है। इससे अगले मन्त्र में यम नचिकेता से कहता है—"हे नचिकेता! तूने प्रिय रूप विषयों को निस्सार समझते हुए छोड़ दिया, इस भोग-सम्पत्तिमय शृंखला को तूने स्वीकार नहीं किया जिसमें बहुत मनुष्य मग्न हो जाते हैं, फँस जाते हैं।"

जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में कहा गया है कि प्रेम-मार्ग तो बड़ा सुहावना नज़र आता है। इस मार्ग पर इन्द्रियों का अपने विषयों से मिलाप होता है; कुछ समय के लिए संतुष्टि भी होती है इसीलिए वह हरा-भरा. आराम देनेवाला प्रतीत होता है। और श्रेय सूखी पगडण्डी है—न सजधज, न रौनक, न चहल-पहल, न चमक-दमक, न तड़क-भड़क—सूना मार्ग, प्रलोभनों से निरन्तर युद्ध छिड़े रहने का मार्ग है, प्रिय प्रतीत होनेवाले पदार्थों के परित्याग का मार्ग है, यह संयम और अनासक्ति का मार्ग है। प्रेय-मार्ग पर चलनेवाले अपने-आपको बड़ा भाग्यवान् और सुखी समझते हैं परन्तु अन्त में सांख्य के सौभ्री मुनि की तरह यही कहने पर बाधित होते हैं कि इस मार्ग पर चलनेवालों के लिए कोई संतुष्टि नहीं, कोई शान्ति नहीं और कोई विश्राम नहीं।

सोलोमन (Solomon) के जीवन से भी ऐसा ही पता मिलता है। इस सोलोमन का समूचा जीवन राजकीय विलासिता का जीवन था। इसकी सात सौ स्त्रियाँ थीं। अब विचार कर लीजिये कि इसके पास धन, दौलत, राज्यशक्ति कितनी महान् होगी। परन्तु सोलोमन के अन्तिम शब्द ये थे:

"Vanity of all Vanities—All is Vanity."

ऐसे ही वयोवृद्ध ययाति राजा का अनुभव भी यही है कि:

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

'भोग द्वारा काम की शान्ति नहीं होती, भोगों से तो वह वैसे ही बढ़ता है जैसे घी डालने से अग्नि प्रबल हो उठती है।'

भगवान् मनु का आदेश

'मनुस्मृति' में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति—दो प्रकार के जीवनों का वर्णन आता है। भगवान् मनु कहते हैं :

सुखाऽभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥

'वैदिक कर्म के दो भेद हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति। पहला सांसारिक सुख का हेतु है और दूसरा मोक्ष का।'

मानव-जीवन में एक बात प्रत्यक्ष देखी जा सकती है कि यदि मनुष्य में सत्त्व गुण प्रधान हो तो परमार्थ के काम, पवित्र काम और दूसरों के कल्याण के कार्य करने की रुचि होती है और ऐसे व्यक्ति का अन्तरात्मा भी उसका उत्साह बढ़ाता है। इसके विपरीत गुणवालों का अनुभव दूसरा होता है।

परमात्मा की आवाज़ सुनो !

महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने 'सत्यार्थप्रकाश' के सातवें समुल्लास में एक अद्भुत रहस्य बतलाया है। श्रेय या प्रेय मार्ग पर चलनेवालों को परमात्मा भी सावधान करता रहता है। वह कैसे ? महर्षि का आदेश पढ़िये :

"उसी क्षण में (जब मनुष्य कोई कर्म करने लगता है) आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता, आनन्द और उत्साह उठता है। यह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं।"

महर्षि ने स्पष्ट बतला दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति को परमात्मा अपना आदेश देता है, परन्तु स्वार्थी सुनता हुआ भी नहीं सुनता और कुमार्ग पर चलने लगता है, फिर भी अन्तरात्मा से आवाज़ आती है—"क्या कर रहे हो ? सँभलो, पतित न हो जाओ ! गिरो नहीं, उठो !"

यह आवाज़ जो सुन लेता है और उसके अनुसार चलता है, वह कुकर्म से बच जाता है और फिसलकर, गिरकर भी पुनः उठकर, सँभलकर, सन्मार्ग पर चलने लगता है। कोई भी पग उठाने, कोई भी कार्य करने से पूर्व परमात्मा से पूछो—"करूँ कि न करूँ ?"—अन्तरात्मा से जो ध्वनि उठे, उसे परमात्मा की आवाज़ समझो ! इसी को आकाशवाणी कहते हैं।

इस ध्वनि को आकाशवाणी इसीलिए कहा जाता है कि यह हृदयाकाश में विराजमान परमात्मा की ओर से आती है। जो मनुष्य इस आकाशवाणी को या परमात्मा के आदेश को सुनता है और साथ ही लोक और शरीर के तत्त्वों की समानता को भी भली प्रकार हृदयंगम कर लेता है, वह फिर वास्तविकता को समझ जाता है और इन तत्त्वों से ऊपर उठने का यत्न करता है तथा निकृष्ट स्वार्थ से बचे रहने का निरन्तर अभ्यास भी हो जाता है।

विषयों का चिन्तन ही न करो

यहाँ एक प्रश्न सामने आ जाता है कि प्रवृत्ति-मार्ग पर चले बिना संसारी लोगों का कार्य चल नहीं सकता तो फिर उत्कृष्ट तथा मध्यम स्वार्थ ही से कार्य क्यों नहीं लिया जाता ? यह निकृष्ट स्वार्थ अपनाया ही क्यों जाता है ? परमात्मा की सामर्थ्य से प्रकृति में जो क्रिया हुई उसके अन्दर से यह काम, क्रोध, मोह, ईर्ष्या, द्वेष तो कहीं पैदा हुए नहीं, फिर ये आ कहाँ से गए ? इसका कुछ उत्तर तो कठोपनिषद् के वाक्य में आ गया है, अधिक स्पष्ट रूप से गीता में श्री कृष्ण भगवान् ने बतला दिया है कि सारे अनिष्टकारी पदार्थ कहाँ से आ जाते हैं :

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥
गीता अ० २। ६२-६३ ॥

'मन के द्वारा विषयों का चिन्तन या ध्यान होता है। विषयों का चिन्तन करने से उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से

उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है। कामना-शक्ति में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़भाव उत्पन्न होता है। तब स्मरण-शक्ति भ्रान्त हो जाती है। स्मृति के भ्रान्त होने से बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धिनाश होने पर मनुष्य नष्ट हो जाता है।'

मन या चित्त ने तो विषयों का केवल ध्यान या चिन्तन किया और उसका परिणाम सर्वनाश निकल आया। मन यदि विकारी न हो, विषयों का ध्यान न करे तो ये विषय मनुष्य के पास आ ही नहीं सकते।

कसौटी आपके हाथ में

पूरा मनन करके शरीर तथा लोक के तत्त्वों और उनके गुणों को भली प्रकार हृदयंगम कर लेना चाहिए।

इस सारी सृष्टि का, जिसे ब्रह्माण्ड कहते हैं, अधिष्ठाता परमात्मा है। इस मानव-शरीर या पिण्ड का अधिष्ठाता आत्मा है।

प्रश्न यह है कि इस आत्माने प्रकृति के पाँच भूतों और उनके गुणों ही में फँसा रहना है या इनसे छुटकारा पाकर परमात्मा से मिलना है? प्रभु-मिलन की यदि चाह है तब तो श्रेय-मार्ग पर ही चलना होगा या उत्कृष्ट-प्रेम-मार्ग पर; और यह तभी होगा जब मानव-जीवन की यात्रा में प्रतिदिन आनेवाली घटनाओं को देखकर हम उसके श्रेय और प्रेय दोनों भागों को यथार्थ रूप से जान लें। इस अध्याय में यह कसौटी आपको दे दी गई है, जिससे आप स्वयं देख सकते हैं कि हमारे पग किधर उठ रहे हैं। साथ ही यह भी जान सकते हैं कि धीरे-धीरे किस प्रकार अपने-आपको श्रेय मार्ग का या उत्कृष्ट प्रेय मार्ग का यात्री बनाया जा सकता है।

मन के दोष और उनका प्रशमन

आयुर्वेद-शास्त्र में शरीर तथा मन के दोषों का वर्णन किया गया है और उन दोषों के प्रशमन का उपाय भी बतलाया है :

रजस्तमश्च मानसौ दोषौ, तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्या-मानमदशोकचित्तोद्वेगभयहर्षादयः ॥

चरक विमानस्थान अ० ६। ५॥

'रजोगुण और तमोगुण मन के दोष हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अभिमान, मद, शोक, चित्त का उद्वेग, भय और हर्षादिक ये मन के दोषों के विकार अर्थात् मन के रोग हैं।'

वातपित्तश्लेष्माणस्तु खलु शारीरा दोषास्तेषामपि च विकारा ज्वरातिसारशोथशोषश्वासप्रमेहकुष्ठादय इति ॥ ६ । ५ ॥

'वात, पित्त और कफ ये शरीर में रहनेवाले दोष हैं। ज्वर, अतिसार, शोथ, शोष, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ आदिक उनके विकार हैं।'

इन दोषों के प्रशमन का उपाय चरक सूत्र-स्थान के पहले ही अध्याय में बतलाया है :

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञान विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ ५८ ॥

'शारीरिक रोग दैव और युक्ति का आश्रय लेकर सेवन किये गये औषधों द्वारा शान्त होते हैं और मानसिक रोग ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि के अभ्यास से शान्त होते हैं।'

ज्ञान का तात्पर्य अनात्म और आत्म वस्तुओं का ज्ञान है; विज्ञान सृष्टि-उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय तथा सृष्टि-क्रम ही है; पूरे धैर्य से ज्ञान प्राप्त करके उसे चित्त में टिकाकर, समाधि-अवस्था में जाकर इस ज्ञान-विज्ञान का साक्षात्कार करने ही से पूरी शान्ति मिलती है।

शारीरिक तथा मानसिक रोगों से बचने के लिए और अपने-आपको निवृत्ति-मार्ग या श्रेय-मार्ग का यात्री बनाने के लिए—अथवा प्रेय-मार्ग पर भी चलें तो उत्कृष्ट स्वार्थवाले ही बनें—इसके लिए शारीरिक तथा मानसिक तत्त्वों और लोक-तत्त्वों का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इन तत्त्वों के सम्बन्ध में सुश्रुत से अच्छा प्रकाश मिलता है।

आयुर्वेद शास्त्र (सुश्रुत) में पंच महाभूत और आत्मा के संयोग को पुरुष कहा गया है और इसी को 'कर्म-पुरुष' का नाम दिया गया है तथा इस कर्म-पुरुष के १६ गुण बतलाये गये हैं जो ये हैं—(१) सुख, (२) दुःख, (३) इच्छा, (४) द्वेष, (५) प्रयत्न, (६) प्राण=श्वास लेना, (७) अपान=अधोवायुनिःसारण, (८) उन्मेष, नेत्रों का खोलना;

निमेष=बन्द करना, (९) बुद्धि, (१०) मन=इन्द्रियों की प्रेरणाशक्ति, (११) संकल्प, (१२) विचारणा, (१३) स्मृति, (१४) विज्ञान (चातुर्य), (१५) अध्यवसाय, (१६) विषयोपलब्धि, अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप आदि का ग्रहण करना। चूँकि पंच-भूत सत्त्व, रजस्, तमस् गुणवाले हैं इसलिए कर्म-पुरुष इनसे अवश्य प्रभावित होता है। जीवों के मन के गुण तब भिन्न-भिन्न हो जाते हैं जिनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है :

सत्त्वगुण-प्रधान जीव के मन के गुण—(१) आनृशंस्य=निर्दयता न होना (दयावान्), (२) संविभागरुचिता=औरों को अवश्य देना चाहे अपने लिए पदार्थ रहे या न रहे, (३) तितिक्षा=हर प्रकार के कष्ट सहन कर लेना, (४) सत्यता, (५) धर्माचरण=आस्तिकता, (६) ज्ञान=विचारशक्ति, (७) बुद्धि, मेधा=धारणा-शक्ति, (८) स्मृति, (९) धृति=धैर्य, (१०) अनभिषंग=बिना किसी लोभ या फल की इच्छा के शुभ कर्म करना।

रजोगुण-प्रधान मन के गुण—(१) विशेष दुःख-बाहुल्यता=दुःखी रहना, (२) पर्यटनशीलता=एक जगह स्थिरप्राय न होना अर्थात् बहुत भ्रमण करना, (३) अधृति=धैर्य न होना, (४) अहंकार=अभिमान करना, (५) झूठ बोलना, (६) दया न रखना, (७) दम्भ=पाखण्ड करना, (८) मान=मान के पीछे भागना, (९) हर्ष=ज़रा-सी बात से अति प्रसन्न हो जाना, (१०) काम=कामनाओं की पूर्ति ही में लगे रहना, (११) क्रोध=झट क्रोध में आ जाना।

तमोगुण-प्रधान मन के गुण—(१) विषाद रखना, (२) नास्तिकता=ईश्वर व वेद में विश्वास न करना, (३) अधर्मशील होना, (४) बुद्धि का ठीक कार्य न करना=बुद्धि का रुके रहना, (५) अज्ञान=धारणा-शक्ति अच्छी न होना, (६) अकर्मशीलता=कोई काम करने को चित्त न चाहना (आलस्य तथा प्रमाद), (७) निद्रा का अधिक आना।

सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी जीवों के मन के गुण जान लेने के पश्चात् पंचभूतों के गुण भी जान लेने चाहिएँ :

आकाश में सत्त्वगुण की विशेषता है।

वायु में रजोगुण की विशेषता है।

अग्नि में सत्त्व तथा रजोगुण दोनों की विशेषता है।
पृथिवी में केवल तमोगुण की विशेषता है।
इन पंचभूतों में से हर भूत में एक और तत्त्व अति सूक्ष्मता से विद्यमान है।

जिस जीव के मन में जो गुण प्रधान है वह उसी प्रकार का व्यवहार करेगा, इसलिए भगवान् कृष्ण ने दो प्रकार के मनुष्यों का वर्णन किया हैं—एक दैवी सम्पदावाले और दूसरे आसुरी सम्पदावाले। आप देख लीजिये कि आपमें कौन-सा गुण प्रधान है। फिर उसके अनुसार अपने जीवन को क्रमशः उन्नत करने का यत्न कीजिये। यदि सत्त्वगुण प्रधान है तब तो आपका इसी जीवन में मोक्ष हो सकता है। यदि रजोगुण या तमोगुण ने घेर रखा है तो इससे छुटकारा पाने का यत्न प्रारम्भ कर दीजिये। उसका साधन यही है कि मनुष्य के सामने जो दो मार्ग खुलते हैं, उनके सम्बन्ध में निश्चय कीजिये कि आप श्रेय-मार्ग के यात्री बनना अपने लिए अच्छा समझते हैं या प्रेय-मार्ग के, और यदि प्रेय-मार्ग ही पर चलना है तो इस मार्ग पर चलते हुए उत्कृष्ट स्वार्थ भला प्रतीत होता है या निकृष्ट। इस अध्याय में उन सारे तत्त्वों का वर्णन आ गया है जो आपको सत्त्वगुण-प्रधान बनने में पूरी सहायता दे सकते हैं। इस अध्याय का बार-बार मनन करने से पर्याप्त लाभ होगा।

□

: ६ :

सृष्टि-तत्त्व

पश्चिमी विद्वान् आज तक संसार के जितने तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं और उनके द्वारा उन्होंने जो आविष्कार किये हैं, उनसे संसारी लोगों के दुःख में भले ही वृद्धि हो गई हो, सुख में तो हुई नहीं। हाँ, एक अंश तक इन आविष्कारों से मनुष्य-शरीर को कुछ सुविधाएँ अवश्य मिल गई हैं, परन्तु देखने में यह आ रहा है कि पश्चिम, पूर्व, सभी दिशाओं के देशवासियों की चिन्ता, वेदना तथा अशान्ति निरन्तर बढ़ती ही चली जा रही है।

एक ग्रामीण की बात

पश्चिम के एक योग्य वैज्ञानिक मैक्सिम गोर्की (Maxim Gorky) एक ग्राम की जनता के समक्ष विज्ञान (Science) के आविष्कारों का महत्त्व प्रकट कर रहे थे। एक ग्रामीण ने उठकर कहा—"हाँ, हम आकाश में पक्षियों की भाँति उड़ना तो सीख गये, बड़े-बड़े सागरों में मीनवत् तैरना भी जान गये परन्तु इस पृथिवी पर हमें कैसा जीवन व्यतीत करना चाहिये, यह हम अभी तक सीख नहीं सके।" सीधे-सादे ग्रामीण के सत्य वचन को सुनकर मैक्सिम गोर्की निरुत्तर हो गये। यूरोप के दूसरे विद्वान् एच० लेवी (H. Lavi) ने 'नेचर' में यह लिखा है कि :

"इस बात पर बहुत अभिमान किया जाता है कि आधुनिक काल के विज्ञान ने मनुष्य को प्रकृति पर असाधारण शक्तियाँ प्रदान कर दी हैं; परन्तु यदि प्रकृति में मनुष्य भी सम्मिलित है तो वह अभिमान टूट जाता है क्योंकि इस मनुष्य द्वारा आज भूख, दरिद्रता, युद्ध तथा वैमनस्य के जो दृश्य देखे जा रहे हैं, ये इस अभिमान को रहने नहीं देते।"

विकास या ह्रास

चार्ल्स डार्विन ने तो यह बतलाया था कि यह संसार क्रमशः उन्नति करता चला जा रहा है। यह मनुष्य पहले ही मनुष्य नहीं बन गया अपितु कितनी ही प्रारम्भिक अवस्थाओं (निर्जीव से जीव, जीव से फिर बड़ा जीव, फिर लंगूर) में धीरे-धीरे विकसित होता चला जा रहा है, परन्तु देखने में यह आ रहा है कि यह उलटा विनाश अथवा ह्रास हो रहा है। मनुष्य अपने मनुष्यत्व ही से पतित होने लगा है। इसका मुख्य कारण यही है कि प्रारम्भ के पश्चिमी वैज्ञानिकों ने केवल प्रकृति (Matter) तथा गति (Energy) ही को सब-कुछ स्वीकार कर लिया और वे आत्मा से बहुत दूर चले गये। पर सारे ही वैज्ञानिक ऐसे नहीं हुए। लुई पैश्चर (जो एक विख्यात वैज्ञानिक हुए हैं) ने ठीक कहा है कि :

"आनेवाली संतति आधुनिक प्रकृतिवादी दार्शनिकों की मूर्खता पर हँसेगी। जितना अधिक मैं प्रकृति का अध्ययन करता हूँ, उतना ही मैं परमेश्वर के कार्यों को देखकर अधिक चकित हो जाता हूँ।"

दो विचारधाराएँ

पश्चिमी वैज्ञानिकों ने संसार के वास्तविक तत्त्व से उदासीन रहना ही श्रेष्ठ समझा और वे केवल दो भौतिक तत्त्वों के केन्द्र ही पर भ्रमण करते रहे और प्रकृति (Matter) तथा गति (Energy) की गाँठ लेकर पन्सारी बन बैठे। निस्सन्देह भौतिक तत्त्वों को लेकर भौतिक क्षेत्र में वे बहुत आगे बढ़ गये, परन्तु इस उन्नति से उन्हें शान्ति नहीं मिली। नाना प्रकार तथा नाना विधान बनाकर उन्होंने जनता को सन्तुष्ट करने के भरसक प्रयत्न किये, परन्तु सन्तोष अधिक दूर ही भागता चला गया। मृगतृष्णा के जल की तरह भौतिक तत्त्वों से काम लेनेवाली दुनिया प्यासी ही रही।

इस समय यूरोप, अमेरिका तथा रूस में दो विचारधाराएँ बड़ा बल दिखला रही हैं। रूस का वर्गवाद (साम्यवाद—Communism) या ब्रिटेन और अमेरिका इत्यादि देशों का प्रजातन्त्रवाद (Democracy) पर दोनों वादों के भक्त एक ही मंज़िल पर पहुँच रहे हैं और वह

मंज़िल है—धनवान् बनने की। दोनों अधिक धन की माला जप रहे हैं। दो भिन्न विचारधाराएँ रखते हुए भी दोनों का आराध्यदेव एक ही है। इस अवस्था को देखकर सर्व-साधारण भी इसी मति के हो रहे हैं कि संसार में ज्ञेय तत्त्व एक ही है और वह धन है।

जब मैंने तत्त्वज्ञान पर निबन्ध लिखना आरम्भ किया और एक सज्जन को लिखा कि मैं अपने जीवन के अन्तिम दिनों में एक ग्रन्थ 'तत्त्वज्ञान' लिख रहा हूँ तो उन्होंने मुझे यह पत्र लिखा :

मित्र का पत्र

"तत्त्वज्ञान पर आप अपने विचार लिख रहे हैं, यह तो प्रसन्नता की बात है; परन्तु आप किस तत्त्व के सम्बन्ध में लिख रहे हैं, यह मुझे ज्ञात नहीं हो सका। मैं तो इस समय केवल एक ही तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझता हूँ, जिसके बिना न मनुष्य जीवित रह सकता है, न मनुष्य-समुदाय बच सकता है, न कोई सरकार चल सकती है, न कोई संस्था जीवित रह सकती है; गृहस्थियों का जीवन तो उसके बिना मृत्यु ही हैं। साधु, संन्यासी, महात्मा, वानप्रस्थी तथा ब्रह्मचारी भी उसके बिना मृत्यु के ग्रास ही बन जाते हैं। हो सकता है कि पहले युगों में ऐसी अवस्था न रही हो, परन्तु इस युग में तो महात्मन्! मैं इस वाक्य को सर्वथा सत्य समझता हूँ कि :

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः सः पण्डितः सः श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति॥

'जिसके पास धन है, वही मनुष्य ऊँचे कुलवाला, वही पण्डित, वही शास्त्रज्ञ और गुणग्राही कहा जाता है। वही वक्ता है और वही दर्शन के योग्य है। इसलिए सारे गुण स्वर्ण में ही विराजमान हैं।'

क्या यह असत्य है ? क्या आज धन की ही पूजा नहीं हो रही ? मैं तपस्वियों की भूमि उत्तराखण्ड को भी देख आया हूँ। वहाँ भी धनियों ही का मान है, गरीब को चाहे वह विद्वान् ही हो कोई पूछता नहीं। ठीक ही कहा है :

शीलं शौचं क्षान्तिर्दाक्ष्यं मधुरता कुले जन्म।
न विराजन्ति हि सर्वे वित्तहीनस्य पुरुषस्य॥

'आचार, पवित्रता, क्षमा, योग्यता, मधुरता और ऊँचे कुल में जन्म, धन-हीन पुरुष के लिए ये सब गुण शोभनीय नहीं रहते।'

यह भी सर्वथा सत्य है कि :

धनं संचय काकुत्स्थ धनमूलमिदं जगत्।
अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च ॥

'हे राजन्! धन का संचय करो; यह संसार धनमूलक ही है। मरे हुए और निर्धन में मैं कोई अन्तर नहीं देखता।'

फिर देखिये कि धन देवता के भक्त तो प्राचीन काल में भी थे। भीष्म पितामह ने यही घोषणा की थी न कि :

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्य महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

'मनुष्य अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं है। महाराज! यह बात सत्य है, मैं इस समय कौरवों के अर्थ से बँधा हूँ।'

तब आप किस भ्रम में जा पड़े हैं? इस समय क्या और पूर्वकाल में क्या, एक ही तत्त्व जानने योग्य है। यदि आप भारत या संसार के अर्थ-सङ्कट को दूर करने के लिए कुछ लिखें तो यह अधिक अच्छा होगा; परन्तु आप तो सारी सम्पत्ति, पूरे वैभव को त्यागकर साधु हो गये हैं, आपको मेरी प्रार्थना रुचिकर प्रतीत नहीं होगी। अतएव जो कुछ भी लिख गया इसके लिए क्षमा चाहता हूँ। आप तो धन्य हैं जो माया के इस जाल से निकल गये।"

धन ही तत्त्व है क्या?

मैंने यह पत्र दो-तीन बार पढ़ा। बात तो ठीक लिखी है मित्र ने। धन के बिना तो कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। यज्ञ-हवन भी नहीं हो सकते। दान, पुण्य, सेवा-कार्य भी नहीं हो सकता।

जब तक जीवन है, पेट भरना ही पड़ेगा। जीवन तो हो जाय लम्बा और धन पास न हो तो वह जीवन मृत्यु से कहीं अधिक दुःख-दायी हो जाता है। इसलिए धन-अर्जन के उपाय तो करने ही चाहियें परन्तु उपाय ऐसे होने चाहियें जिनको प्रयोग में लाने से श्रेष्ठ पुरुषों में निन्दा और अपयश न हो, अपितु शुद्ध कमाई हो। वेदभगवान् में

कई स्थलों पर धन-सम्पत्ति के लिए प्रार्थनाएँ आती हैं, पर वेद में जहाँ "वयं स्याम पतयो रयीणाम्" आता है, वहाँ यह भी आदेश है :

"मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।"

'लोभ न कर, यह धन किसी का साथ नहीं देता।' लेकिन साथ न भी दे, तो भी धन की आवश्यकता तो रहती ही है, धन के लिए पुकार तो मचती ही है। कितने ही लोग उसे बहुत बड़ा तत्त्व समझते हैं।

क्या यही वास्तविक तत्त्व है जिसका ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है ? क्या इसी के प्राप्त कर लेने से सारे कष्टों, क्लेशों, दुःखों, चिन्ताओं का अन्त हो जाएगा ? अनुभव में तो ऐसा नहीं आता। धन यदि सुख का कारण होता तो सोने की लङ्का का स्वामी रावण क्यों दुःखी होता ? क़ारूँ क्यों मरता ? राजा भर्तृहरि राज्य और धन छोड़कर वनों को क्यों चले जाते ? आजकल की दुनिया के करोड़ोंपति, अरबोंपति दुःखी, रोगी तथा चिन्तित क्यों दिखाई देते ? सांसारिक व्यवहार चलाने के लिए तो निस्सन्देह धन आवश्यक पदार्थ है। इसका सर्वथा तिरस्कार करना कठिन है। जैसे अपने वास्तविक उद्देश्य को पाने के लिए शरीर की रक्षा आवश्यक है, जैसे देहली से बम्बई जाने के लिए रेलगाड़ी, मोटर अथवा वायुयान की आवश्यकता है, इसी प्रकार धन की भी अपने स्थान पर अवश्य ज़रूरत है, पर मनुष्य-जीवन का यह अन्तिम ध्येय तो नहीं। जिस प्रकार मैटर और एनर्जी ही को सब-कुछ समझनेवाले पश्चिमी वैज्ञानिक दुःखी हो रहे हैं, उसी प्रकार धन ही को ज्ञेय पदार्थ समझनेवाले भी दुःखी ही दिखलाई देते हैं। कारण यह है कि धन या वित्त वा द्रव्य अथवा सोना, चाँदी इत्यादि उन सारे दुर्गुणों को उत्पन्न करनेवाले हैं जिन्हें काम, क्रोध, लोभ, मोह के नाम से पुकारा गया है। अनुभवियों ने कहा भी है :

द्रव्येण जायते कामः, क्रोधो द्रव्येण जायते ।
द्रव्येण जायते लोभो, मोहो द्रव्येण जायते ।।

'धन से काम, क्रोध, लोभ, मोह पैदा होता है।' और भी अधिक विस्तार में धन से आनेवाले दुर्गुणों का वर्णन इन दो श्लोकों में किया

गया है :

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ।।
एते पंचदशाऽनर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ।।

'चोरी, हिंसा, मिथ्याभाषण, पाखण्ड, काम (पराया धन लेने की इच्छा), क्रोध, अहंकार, मद, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा (पराई उन्नति को सहन न करना) और व्यसन (स्त्री-लम्पटता, जुआ और मद्यपान आदि) ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्यों में धन के ही कारण माने गए हैं। इसलिए अपना कल्याण चाहनेवाला पुरुष अर्थ नामक अनर्थ को दूर से त्याग दे।' जो धन इतने अनर्थों, दुर्गुणों, दुर्व्यसनों तथा पापों का जनक है, क्या वह ऐसा तत्त्व हो सकता है जिसके पीछे मानव पागल हो उठे ?

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ।।

'स्वर्ग और मोक्ष के द्वारभूत इस मनुष्य-शरीर को पाकर कौन मरणशील पुरुष अनर्थ के घर धन में आसक्ति करेगा ?'

फिर यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है कि क्षुधापूर्ति के नाम पर इतने आडम्बर रच लिये जायँ ? कवि ठीक कहता है :

शमयितुमौदरमग्नि संसाराख्याम्बुधौ निमज्जन्ति ।
तुहिनव्यथानिवृत्त्यै न हि वेश्मनि पावको देयः ।।

'पेट की क्षुधा-रूपी अग्नि को शान्त करने के लिए अविवेकी पुरुष संसार-रूपी समुद्र में डूब जाता है। यह बड़ा अनुचित है क्योंकि शीत की पीड़ा दूर करने के लिए घर या मकान को आग नहीं लगाई जाती।'

पिछले युगों का तो पता नहीं, पर इस युग में आप स्पष्ट देख रहे हैं कि स्वर्ण तथा चाँदी और अन्य धातुओं के ढेर प्रतिदिन बढ़ते ही चले जा रहे हैं, पर संसारी लोग फिर भी अपने-आपको निर्धन ही समझते हैं। यह धन-संग्रह करने की लालसा कभी पूरी नहीं होती, नित्यप्रति बढ़ती ही चली जाती है। यह तृष्णा न आज तक किसी की

शान्त हुई, न आगे होगी। धन यदि वह तत्त्व होता जिसके प्राप्त कर लेने से कोई मोह, कोई शोक नहीं रहता, आनन्द-ही-आनन्द चारों ओर प्रतीत होता, तब तो धन के लिए भटकना ठीक था।

संसार के बड़े-बड़े धनियों का अन्त

संसार के बड़े-बड़े धनियों का अन्त किस प्रकार हुआ, इसका बड़ा सुन्दर उत्तर श्री रणवीर जी ने दैनिक 'मिलाप' देहली में दिया है। श्री रणवीर जी ने एक प्रश्न के उत्तर में लिखा कि—धनियों का सर्वदा अन्त अच्छा नहीं हुआ। सन् १९२३ में शिकागो के एक होटल में संसारभर के बड़े-बड़े धनियों की एक सभा हुई। इस सभा में दुनिया की सबसे बड़ी लोहा-कम्पनी के प्रधान भी विद्यमान थे, अमेरिका के नैशनल सिटी बैङ्क के प्रधान भी, अमेरिका की सबसे बड़ी गैस-कम्पनी के सभापति, गेहूँ के सबसे बड़े सट्टा करनेवाले न्युयॉर्क स्टॉक एक्सचेंज (Stock Exchange) के प्रधान, अमेरिका की हॉलस्ट्रीट के सबसे बड़े गोदाम के स्वामी, सारी दुनिया के देशों के सैटलमेंट बैङ्क के प्रधान भी। संसार के ये उन इने-गिने धनियों में से थे जिनको स्वयं पता नहीं था कि उनके पास कितनी धनराशि है। परन्तु २५ वर्ष के पश्चात् दुनिया की सबसे बड़ी लोहा-कम्पनी के प्रधान चार्ल्स दीवालिया होकर मरे। दुनिया की सबसे बड़ी व्यापारी कम्पनी के प्रधान सेमुअल जीवन के अन्तिम दिनों में भिखारी थे और साथ ही छिपे हुए सरकारी अपराधी भी। सबसे बड़ी गैस-कम्पनी के प्रधान हावर्ड पागलों के अस्पताल में गये। गेहूँ का सट्टा करनेवाले मरने से पूर्व दीवालिया हुए। न्यूयॉर्क स्टॉक एक्सचेंज के प्रधान विटने जेलखाने में पड़े और बन्दी-गृह में ही उनकी मृत्यु हुई। सबसे बड़े गोदाम के स्वामी ने आत्म-हत्या कर ली। इसी प्रकार दुनिया के सारे देशों के बैङ्क के प्रधान फ्रेज़र ने भी आत्म-हत्या कर ली।

ठीक ही कहा है और यह अटल सत्य है :

अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्यापि रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥

'धन के कमाने में दुःख, कमाकर उसकी रक्षा करने में दुःख, धन का नाश हो जाय तो दुःख, खर्च हो जाय तो दुःख। ऐसे धन पर धिक्कार है जो दुःख-ही-दुःख का कारण है!'

एक और अनुभवी ने कहा है :

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥

'धन के कमाने, कमाकर उसको बढ़ाने में, फिर उसकी रक्षा और व्यय करने में, नाश और उपभोग में—मनुष्यों को बड़ा भारी परिश्रम, हर किसी से भय, चिन्ता और भ्रम होता है।'

आजकल की अधिकतर जनता इस धन ही की उपासक है। धन के इन उपासकों का मैं विरोधी नहीं हूँ। धन की (लक्ष्मी की) उपासना करके देख लें, अन्त में उनको यही कहना पड़ेगा कि—जिस धन को उन्होंने सब-कुछ समझ रखा था, वही दुःख का सबसे बड़ा कारण सिद्ध हुआ। धन बुरी वस्तु नहीं; जीवन-यात्रा में इसका भी एक स्थान है, परन्तु परम-तत्त्व धन ही को समझ बैठना भारी भूल है।

संसार-समुद्र को कैसे तरूँ ?

पश्चिमी वैज्ञानिकों के भौतिक तत्त्वों के आविष्कारों के परिणाम तथा धन और धनियों के उपद्रवों को देखकर मनुष्य घबरा जाता है। यह सृष्टि का माया-जाल कैसा रच दिया गया है? इससे पार निकल जाने का कोई मार्ग दिखलाई नहीं देता। विवश वह श्री शङ्कराचार्य के शब्दों में पुकार उठता है कि :

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं, का वा गतिर्मे, कतमोऽस्त्युपायः।
जाने न किंचित्कृपयाव मां भोः! संसारदुःखक्षतिमातनुष्व॥

(विवेकचूडामणि)

'मैं इस प्रकार समुद्र को कैसे तरूँगा? मेरी क्या गति होगी? इसका क्या उपाय है? यह मैं कुछ नहीं जानता। प्रभो! कृपया मेरी रक्षा कीजिये और मेरे संसार-दुःख के क्षय का आयोजन कीजिये।'

केवल शंकर भगवान् ही ने भक्त से यह बात नहीं कहलाई, अपितु महर्षि गौतम, कणाद, कपिल, पतंजलि, जैमिनि, व्यास ने जो न्याय-

दर्शन, वैशेषिक दर्शन, सांख्य-दर्शन, योग-दर्शन, पूर्व-मीमांसा दर्शन और वेदान्त-दर्शन के निर्माता थे, उन्होंने इन ग्रन्थों का निर्माण क्यों किया ? उसका मूल कारण तो यही था कि किसी प्रकार दुःखों और चिन्ताओं से पीड़ित संसारी लोगों को दुःखों से मुक्त करके सुखी किया जा सके। यही नहीं, अपितु आयुर्वेद के ग्रन्थ 'सुश्रुत' के कर्त्ता भगवान् धन्वन्तरि ने संसार के शारीरिक दुःखों ही को दूर करने के लिए इसकी रचना की और मनु भगवान् ने समाज को सुखी रखने के लिए अपनी 'स्मृति' का निर्माण किया। इन सबसे पूर्व सारी सृष्टि के रच-यिता और नियन्ता परमेश्वर परमात्मा ने आदिकाल में जिस प्रकार सृष्टि के कल्याणार्थ सूर्य दिया, इसी प्रकार चार वेद दिये। परन्तु वाह रे मनुष्य ! तूने अपने इन पथ-प्रदर्शकों ही का नाम ले-लेकर झगड़ना और मतमतान्तरों की रचना प्रारम्भ कर दी। वेदों ही से अनेक भिन्न-भिन्न वाद निकाल लिये। दर्शनों पर तो वह ले-दे हुई कि कुछ न पूछिये ! परन्तु मुझे यहाँ इन झगड़ों, मतों अथवा सम्प्रदायों से कोई प्रयोजन नहीं। मेरा अटल विश्वास है कि जब अच्छे दिन आ जायेंगे तो ये सब-के-सब एक ही ब्रह्म के समीप पहुँच जायेंगे। पहुँचना तो एक ही स्थान पर है, नगरी का तो एक ही बड़ा चौक है; चारों दिशाओं से यात्री इसी चौक में पहुँचने के लिए दूर-दूर से चलते हैं। मार्ग में नदियाँ भी हैं और वन भी, पर्वत भी और मरुस्थल भी, अपने-अपने सुभीते के अनुसार वे चलते हैं—कोई विशाल मार्ग से, कोई संकीर्ण मार्ग से। यात्री यदि सीधे चलते रहें, मार्ग के वनों तथा पर्वतों में भटक न जायँ तो नगरी के चौक में एक-न-एक दिन पहुँच ही जायेंगे। परन्तु जो मार्ग ही भूल जाय और उलटा ही चलना शुरू कर दे, वह यह तो अवश्य ही समझता रहेगा कि मैं चल रहा हूँ परन्तु वह मंज़िल पर पहुँच नहीं सकेगा: वह तो वनों तथा कन्दराओं में भटकता रह जायेगा।

भगवान् ने आदिसृष्टि में वेद और तत्पश्चात् ऋषियों, मुनियों व योगियों ने उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियाँ इत्यादि संसारी मनुष्यों के पथ-प्रदर्शन के लिए ही दिये थे ताकि वे सन्मार्ग पर चलकर सुख का जीवन

व्यतीत कर सकें और अपनी जीवन-यात्रा सफल कर सकें।

इन सारे शास्त्रों के अवलोकन से एक तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जब तक सृष्टि-विज्ञान का भली प्रकार पता न लग जाय, तब तक वास्तविक तत्त्व तक पहुँचना कठिन होता है। इसीलिए लगभग हर-एक शास्त्र ने पहले इस बात पर प्रकाश डाला है कि यह सृष्टि और सृष्टि के सारे पदार्थ, ये जीवजन्तु और फिर ये मनुष्य, ये सारे लोक, नक्षत्र और नाना जल-स्थल बन कैसे गये ?

सृष्टि-उत्पत्ति का विषय कुछ शुष्क-सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक तत्त्व की खोज के लिए इसका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए ऋषियों ने इसका वर्णन ज़रूरी समझा और यह है भी बहुत लाभदायक। आप पर जब यह प्रकट हो जाय कि प्रकृति के किस गुण से, किस क्रम से, क्या बना है और हमारे इन्द्रिय और इनके विषय और यह स्थूल भूत किससे निर्मित हुए हैं, तो आपको इनके वश करने में बड़ी भारी सहायता मिल जायेगी और यह प्रसङ्ग अरुचिकर नहीं अपितु रुचिकर हो जायेगा। सृष्टि-विज्ञान को खूब अच्छी तरह बुद्धि-पूर्वक समझ लेना ही पर्याप्त नहीं, अपितु इस सारे विज्ञान को हृदयंगम करके फिर समाधि-अवस्था में इन सारे पदार्थों को साक्षात् भी करना आवश्यक है। अतएव इस प्रसंग को पूरा एकाग्रचित्त होकर समझना चाहिये।

विश्व एक पहेली

सौर-जगत् का पश्चिमी विद्वान् एडिंगटन (Eddington) इस सृष्टि की अद्भुत रचना को देखकर कह उठता है कि—

"मनुष्य का हृदय पुकारता है—यह सब-कुछ क्या है ?"[1]

यह विश्व निस्सन्देह एक पहेली है जिसको साधारण वैज्ञानिक तो समझ ही नहीं सकते और माया ही के ऊपर-ऊपर भ्रमण करते थक-कर बैठ जाते हैं; परन्तु हमारे प्राचीन ऋषियों ने अपनी समाधि-

1. 'From the human heart the cry goes up, what is it all about ?"

अवस्था में इस सारी रचना के रहस्य को देख लिया था। उन्होंने यह सारा विज्ञान जीवों के कल्याण के लिए लेखबद्ध कर दिया और सबसे पूर्व स्वयं भगवान् ने आदि ऋषियों द्वारा जो वेद प्रकट किये, उनमें सृष्टि-विज्ञान का उपदेश दिया है।

वेद में सृष्टि-रचना

भगवान् ही इस रहस्य को खोजने में पूरा समर्थ है क्योंकि वह सृष्टि से पूर्व भी था, अब भी है और सृष्टि के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी रहेगा। ऐसा अनन्त, अनादि, सर्वज्ञ भगवान् जीवों के पथ-प्रदर्शन के लिए कहता है कि :

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

ऋ० मं० १०। १२९। मं० ३॥

'यह सब जगत् सृष्टि के पहले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने अयोग्य, आकाशरूप (आकाश के समान) तुच्छ था, पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य द्वारा कारणरूप से कार्यरूप कर दिया।'

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवतात्प्रयतिः परस्तात्॥

ऋ० १०। १२९। ५॥

'तीनों (परमात्मा, जीवात्मा और संसार का मूल कारण प्रकृति) के तेज को मिलाकर एक किरण चारों ओर फैल गया और वह ऊपर-नीचे चारों ओर आश्चर्यकारक बन गया। बल का धारण और पोषण करनेवाले जीवात्मा अनेक थे। आत्मा में प्रथम से अपनी निज धारणा-शक्ति है और अन्त तक चलनेवाला प्रयत्न है।'

वेद पहेली खोलता है

इसी प्रकार ऋग्वेद के और कई मन्त्र हैं और यजुर्वेद के 'पुरुष-सूक्त' में अधिक विस्तार से सृष्टि-विज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। 'पुरुष सूक्त' के सारे ही मन्त्र बड़े महत्त्व के हैं परन्तु दो मन्त्रों में विशेष रहस्य प्रकट किये गये हैं। वे दोनों मन्त्र ये हैं :

ओं सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वानाऽअबध्नन् पुरुषं पशुम् ।। यजु० ३१ । १५ ।।
ओं अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टाविदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ।।
य० ३१ । १७ ।।

इन दो मन्त्रों के अर्थ तथा व्याख्या महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार की है :

ईश्वर ने एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधियाँ ऊपर-ऊपर रची हैं (जो गोल वस्तु के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है, उसको परिधि कहते हैं)। इस प्रकार ब्रह्माण्ड में जितने लोक हैं, ईश्वर ने एक-एक के ऊपर सात-सात आवरण बनाए हैं—(१) एक समुद्र, (२) दूसरा त्रसरेणु, (३) तीसरा मेघमण्डल का वायु, (४) चौथा वृष्टिजल, (५) पाँचवाँ वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, (६) छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं, (७) सातवाँ सूत्रात्मा वायु जो धनञ्जय से भी सूक्ष्म है। ये सात परिधियाँ कहलाती हैं।[1]

---

१. लोक एक ही नहीं, पृथिवी, द्यौ, और अन्तरिक्ष का वर्णन तो बहुत आता है, फिर सप्त लोक भी वर्णित हुए हैं। १४ भुवनों के नाम भी सुनाई देते हैं। ये लोक-परलोक कितने हैं, कहाँ हैं, इनका विस्तार कितना है, अभी पूरा तो क्या, अधूरा ज्ञान भी नहीं हो सका। बृहदारण्यक उपनिषद् ही में याज्ञवल्क्य ने गार्गी से संवाद करते हुए नौ लोकों का वर्णन किया है :—अन्तरिक्षलोक, गन्धर्वलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्रलोक, देवलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, ब्रह्मलोक; और फिर इन सब लोकों को आकाश में बतलाया गया है। इसी प्रकार सप्त द्वीप, सप्त समुद्र, सप्त लोक और सप्त पाताल का भी वर्णन पाया जाता है, वह इस प्रकार है :—

सप्त द्वीप—जम्बु, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक, पुष्कर।

सप्त समुद्र—लवणोद, ऐक्ष्वोद, घृतोद, क्षारोद, दधि मण्डोद, स्वादूदक।

इस ब्रह्माण्ड की सामग्री (त्रिः सप्त समिधः) इक्कीस प्रकार की कहाती है जिसमें से (१) पहला प्रकृति, बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं क्योंकि ये तीनों अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ हैं। (२) दूसरा श्रोत्र। (३) तीसरा त्वचा। (४) चौथा नेत्र। (५) पाँचवाँ जिह्वा। (६) छठा नासिका। (७) सातवाँ वाक्। (८) आठवाँ पग। (९) नवमा हाथ (१०) दशमी गुदा। (११) ग्यारहवाँ उपस्थ, जिसको लिंग कहते हैं। (१२) बारहवाँ शब्द। (१३) तेरहवाँ स्पर्श। (१४) चौदहवाँ रूप। (१५) पन्द्रहवाँ रस। (१६) सोलहवाँ गन्ध। (१७) सत्रहवाँ पृथिवी। (१८) अठारहवाँ जल (१९) उन्नीसवाँ अग्नि। (२०) बीसवाँ वायु। (२१) इक्कीसवाँ आकाश। ये इक्कीस समिधा कहाती हैं। जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचनेवाला, सबको देखनेवाला और पूज्य है, उसी का विद्वान् लोग ध्यान करते हैं। उसी के ध्यान में अपनी आत्माओं को दृढ़ बाँधने से कल्याण जानते हैं॥ १५॥

उस पुरुष परमात्मा ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिए जल के सारांश रस को ग्रहण करके तथा पृथिवी और जल के परमाणुओं को मिलाके पृथिवी रची है। इसी प्रकार अग्नि के सारांश को इकट्ठा करके तथा

सप्तलोक—भूः, भुः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्।

सप्त पाताल—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, और पाताल।

इनके साथ १४ भुवनों और नव द्वीपों का भी वर्णन आता है। भुवन या लोक सात ऊपर, सात नीचे बतलाये जाते हैं। फिर भूगोल के अन्तर्गत जो अनेक उपलोक हैं वे हमारी पृथिवी की अपेक्षा बहुत अधिक सूक्ष्म कहे जाते हैं। यदि इस ब्रह्माण्ड पर दृष्टि डाली जाय और इसके १४ भुवनों, ९ द्वीपों, ९ अन्य विभागों और तीन लोकों में अपनी पृथिवी को देखा जाय तो यह सारे ब्रह्माण्ड का एक बटा ग्यारह सौ छिहत्तरवाँ अंश है और इसके जो नौ विभाग हैं, उनमें से एक विभाग वह आर्यावर्त देश है जो अब सिकुड़ते-सिकुड़ते भारत रह गया है। इतने विशाल संसार में एक जीव का स्थान कितना है यह भी देख लीजिये।

अग्नि के परमाणुओं के साथ-साथ जल के परमाणुओं को मिलाके जल को, वायु के सारांश को एकत्रित करके तथा वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिलाके अग्नि को, आकाश के पश्चात् वायु के परमाणुओं से वायु को, जगत् के आदि कारण प्रकृति से आकाश को—जो कि सभी तत्त्वों का ठहरने का स्थान है, रचा। ये सब पदार्थ ईश्वर ने रचे हैं अतः उसका नाम विश्वकर्मा है। जगत् जब उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य (वश) में कारणरूप से वर्त्तमान था। ईश्वर जब-जब अपने सामर्थ्य से इस कार्यरूप जगत् को रचता है तब-तब कार्य-जगत् गुणवाला होके स्थूल बनके देखने में आता है। जब परमेश्वर ने मनुष्य-शरीर आदि को रचा है, तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहलाते हैं। ईश्वर की आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम सकाम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को जलाता है वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम निष्काम कर्म, उपासना और ज्ञान-पुरुषार्थ करता है वह उत्तम देव कहलाता है ॥ १६ ॥

सारे शास्त्रों का एक तत्त्व

यह तो हुई वेद की बात, अब दर्शनों तथा अन्य शास्त्रों को लीजिये। मनुस्मृति, सुश्रुत, दर्शन, उपनिषद् तथा अन्य शास्त्रों का सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण भूतों—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा प्राणियों का कारण तीन गुणोंवाली मूल प्रकृति अथवा ब्रह्म समस्त जगत् की उत्पत्ति का कारण है। सब-के-सब शास्त्र इस बात पर सहमत हैं कि यह विश्व महाप्रलयकाल में अन्धकारयुक्त और लक्षणों से रहित, संकेत के अयोग्य, तथा तर्क द्वारा और स्वरूप से जानने के अयोग्य, सब ओर से निद्रा की-सी दशा में था। तब ब्रह्म के सामर्थ्य से सत्, रज, तम गुणोंवाली मूल प्रकृति में गति हुई। उस गति से तीन गुणोंवाला महत्तत्त्व (जिसे निश्चयात्मक बुद्धि-तत्त्व भी कहते हैं) उत्पन्न हुआ और उस महत्तत्त्व से अहंकार उत्पन्न हुआ। यह अहंकार भी सत्, रज, तम तीनों गुणोंवाला था। तब अहंकार ने तीन रूप धारण किये :

(१) सत्त्वप्रधान अहंकार, (२) रज:प्रधान अहंकार और (३) तम:प्रधान अहंकार। फिर सत्त्व और रज:प्रधान अहंकार से मन की उत्पत्ति हुई और राजस अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति और तामस अहंकार से पञ्च-तन्मात्र की उत्पत्ति हुई।

अब इन तन्मात्राओं से क्या कुछ होता है, इसे भी देख लेना आवश्यक है। चूंकि इस सारे दृश्य का आदि मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक है, इसलिये इससे जो महत्तत्त्व पैदा हुआ वह भी सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंवाला है और अहंकार भी। ऐसे ही अहंकार से पैदा होनेवाले सारे पदार्थ भी, पंच-तन्मात्रा तम:प्रधान अहंकार से बनते हैं।

ये तन्मात्रा क्या हैं ? भूतों का अत्यन्त सूक्ष्म रूप। जैसे वट वृक्ष के नन्हे-से बीज में सारा विशाल वट वृक्ष पत्तों, डालों तथा ऊपर से नीचे तक विद्यमान होता है, ऐसे ही तन्मात्राओं में सारे भूतों का बीज होता है। तन्मात्राओं का नाम यह है :

(१) शब्द तन्मात्र, (२) स्पर्श तन्मात्र, (३) रूप तन्मात्र, (४) रस-तन्मात्र और (५) गन्ध तन्मात्र। ये तन्मात्र जब स्थूल होते हैं तो इनको पाँच विषय (१) शब्द, (२) स्पर्श, (३) रूप (४) रस तथा (५) गन्ध कहा जाता है।

अब इन विषयों के अतिरिक्त इन्हीं तन्मात्राओं से यथाक्रम आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथिवी उत्पन्न हुए। इसका ढंग यह है :

(१) शब्द तन्मात्र से शब्द गुणवाला **आकाश** उत्पन्न हुआ।

(२) शब्द तन्मात्रा तथा स्पर्श तन्मात्रा से शब्द-स्पर्श गुणवाला **वायु** उत्पन्न हुआ।

(३) शब्द, स्पर्श तथा रूप तन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-रूप गुणवाला **तेज या अग्नि** उत्पन्न हुआ।

(४) शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध तन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-रूप-गन्धगुणवाली **पृथिवी** उत्पन्न हुई।

इन स्थूल भूतों के पश्चात् फिर नाना प्रकार की ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, वृक्ष आदि हुए। उनसे फिर अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है और यह क्रिया केवल हमारी पृथिवी पर ही नहीं अपितु

अनेकानेक करोड़ों भूगोलों, सूर्यों, चन्द्रादिकों में भी है। जैसे इस पृथिवी पर हर प्रकार की सृष्टि है, ऐसे ही सब लोक-लोकान्तरों तथा भूगोलों में है। ये रात्रि को दीखनेवाले तारागण, ये सारे नक्षत्र, सब-के-सब नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं और मनुष्यों से इसी प्रकार आबाद हैं जैसे हमारी पृथिवी। तब अनुमान करो कि यह कितनी बड़ी सृष्टि है? मनष्य तो इसी सृष्टि ही का पारावार पाने के अयोग्य है।

फिर यह विचारिये कि लोक-लोकान्तरों में कोई भी स्थान ऐसा नहीं जो प्राण तथा जीवन के बिना हो। हरएक स्थान प्राणमय है। इस प्राणमय संसार का पृथिवी ११७६वाँ अंश है। इस पृथिवी के जल, थल, आकाश, अग्नि, सारे-के-सारे भाग भी प्राणमय हैं, फिर मनुष्य का शरीर केवल एक जीव का स्थान नहीं अपितु अरबों-खरबों, और इन अरबों-खरबों को करोड़ों अरबों के साथ अरबों बार गुणा करने पर भी उन जीवों की गिनती नहीं हो सकती जो मनुष्य-शरीर में विद्यमान हैं। मनुष्य के रक्त में, थूक में, मल-मूत्र में, उदर तथा हर अङ्ग में असंख्य कीट और कीटाणु पाये जाते हैं। मनुष्य के वीर्य ही में लगभग तीन अरब कीटाणु विद्यमान हैं। इस सारे प्राणमय संसार को देखकर मनुष्य चकित रह जाता है। धन्य हो भगवन्! जिन्होंने अपनी कृपा से इन अगणित कीटाणुओं की योनियों से निकालकर हमें मानव-शरीर दिया ताकि हम परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

एकादश इन्द्रियाँ ये हैं—

(१) श्रवण, (२) त्वचा, (३) नेत्र, (४) घ्राण, (५) जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हीं से विषयों का ज्ञान होता है। (१) वाक्, (२) पाणि (हाथ), (३) पाद, (४) गुदा, (५) उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन दशों इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन है, जिसकी प्रेरणा के बिना ये इन्द्रिय कुछ भी करने योग्य नहीं।

ज्ञानेन्द्रियों के विषय ये हैं—श्रोत का विषय शब्द, त्वचा का स्पर्श, चक्षु का रूप, जिह्वा (रसना) का रस तथा घ्राण का विषय गन्ध है।

कर्मेन्द्रियों के विषय ये हैं—वाक् का विषय बोलना, हाथों का विषय पकड़ना, लिंग का मूत्रत्याग इत्यादि, गुदा का मल-वायु-त्याग,

पाद का विषय चलना है।

चौबीस अनात्म तत्त्व

अब इन सबका जोड़ कीजिये कि सारे तत्त्व कुल कितने हुए— (१) अव्यक्त; (२) महत्तत्त्व (३) अहंकार, ये तीन; शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र और गन्ध-तन्मात्र ये पाँच तथा ग्यारह इन्द्रियाँ एवं पंच महाभूत ये सोलह, कुल ३+५+१६=२४ तत्त्व हुए। परन्तु जितना प्रपंच आपने देखा है, जैसाकि पहले भी बताया गया है, यह सब-का-सब प्रकृति ही का कार्य है अर्थात् ये २४ तत्त्व भौतिक ही हैं। हाँ, प्रारम्भ में ब्रह्म की सामर्थ्य ने थोड़ा-सा कार्य किया था परन्तु ये २४ तत्त्व अनात्म पदार्थ ही हैं।

यह सारा प्रपञ्च क्यों ?

ये अनात्म तत्त्व बिना किसी चैतन्य शक्ति के तो कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकते। फिर यह भी प्रश्न सामने आकर खड़ा हो जाता है कि यह सारा प्रपञ्च किसी प्रयोजन के लिए है या बिना प्रयोजन के ? 'योग-दर्शन' में इसका यथार्थ उत्तर दिया गया है :

प्रकाश क्रिया-स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं
भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ २ । १८ ॥
तदर्थ एव च दृश्यस्यात्मा ॥ २ । २१ ॥

'सत्त्व, रजस्, तमस् से बना हुआ यह पंच भूत तथा इन्द्रियरूप दृश्य संसारी जीव के भोग व मोक्ष के लिए परमात्मा ने रचा है। यह दृश्य जीव के लिए ही है।'

'योग-दर्शन' में इसी अभिप्राय का एक और सूत्र यह है :

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ २ । १४ ॥

'जो पूर्व-कर्म से जीव को जाति, आयु वा भोग मिलते हैं, वे पुण्य-हेतुक होने से सुख देनेवाले होते हैं और पाप-हेतुक होने से दुःख के देनेवाले होते हैं।'

यदि संसार की रचना न हो तो ये सुख-दुःख कैसे भोगे जायँ ? यह सारा प्रपंच केवल जीवात्मा के हितार्थ ही है। यह प्रयोजन इस संसार का है। सांख्य में भी इसी बात को स्पष्ट किया गया है :

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषष्य तथात्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

'जैसे नृत्य करनेवाली नाच देखनेवालों को नृत्य दिखलाकर निवृत्त हो जाती है, इसी प्रकार प्रकृति पुरुष (आत्मा) को भोग कराने के लिए शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-रूप से व्यवहार करती है और आत्मा का मोक्ष कराकर फिर निवृत्त हो जाती है।' प्रकृति का खेल तभी तक है जब तक आत्मा अपने कर्मानुसार अपने भोग तथा मोक्ष को प्राप्त नहीं कर लेता। परमात्मा ने यह सारी रचना जीव ही के हित के लिए की है, इसे दुःखी रखने के लिए नहीं। जीव ने जो अपनी इन्द्रियों का दुरुपयोग किया है और उनके कारण से अन्तःकरण पर जो मैल, विक्षेप तथा आवरण आ गया है उसको साफ करने के लिए कितनी ही वैज्ञानिक क्रियाएँ नाना प्रकार की योनियों, तपों और दूसरे साधनों द्वारा करनी ही पड़ती हैं।

परन्तु सृष्टि के जो चौबीस तत्त्व प्रकट किये गए हैं, इनमें तो आत्मा का कहीं संकेत नहीं। तब ये चौबीस तत्त्व कैसे कार्य करते हैं ?

वात्स्यायन जी महाराज लिखते हैं :

आत्मा मनसा संयुज्यते मनः इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेण ।

'आत्मा का मन से संयोग होता है, मन का इन्द्रियों से तथा इन्द्रियों का अर्थ से, तभी सारा कार्य होता है।' यदि पंचभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—भी हों, पाँचों विषय भी, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी हों, मन भी विद्यमान हो, परन्तु एक आत्मा शरीर से निकल जाय तो फिर इस सारी सेना के विद्यमान होते हुए भी तो कार्य नहीं हो सकेगा। इस सम्बन्ध में भावमिश्र जी का यह श्लोक देखिये :

एवं चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः सिद्धे वपुर्गृहे ।
जीवात्मा नियतेर्बद्धो वसति स्वान्तः दूतवान् ॥

'इस प्रकार चौबीस तत्त्वों से सिद्ध किये (रचे हुए) शरीर-रूप घर में नियति (कर्मों) के आधीन हुआ, मन-रूप दूतवाला जीवात्मा वास करता है।'

पश्चिमी विद्वान् भी आत्मा को मानते हैं

यदि पश्चिमी वैज्ञानिकों से पूछा जाय तो वे भी यही कहते हैं—आत्मा अवश्य है। 'Science and Religion by Seven Men of Science' के ५०वें पृष्ठ पर प्रोफेसर डब्ल्यू० बी० बॉटमली का यह सिद्धान्त है—"भौतिक अथवा रासायनिक विज्ञान मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इनसे बढ़कर और भी कोई वस्तु है। हममें से प्रत्येक के हृदय में कोई वस्तु है जो उच्च और मनुष्य को मनुष्य बनानेवाले उद्देश्यों की ओर प्रेरित करती है। प्रत्येक वस्तु की विज्ञान से व्याख्या नहीं की जा सकती। वह वस्तु प्राकृतिक जगत् से ऊपर की वस्तु है और वही जीवात्मा है।"

इस प्रकार इसी पुस्तक के १०वें पृष्ठ पर भूगर्भ-विद्या के निपुण विद्वान् प्रोफैसर एडवर्ड हुल (Prof. Edward Hull) का अनुभव दिया गया है। वे लिखते हैं :

"भूगर्भ-विज्ञान जगत् के शासक और रचयिता की सत्ता प्रमाणित करता है। साठ वर्ष अर्थात् अपने शिक्षाकाल से अब तक भूगर्भ-विद्या को मैं निरन्तर ऐसा ही समझता और मानता चला आ रहा हूँ। भूगर्भ-विद्या बतलाती है कि एक समय था, जब किसी प्रकार का जीवन पृथिवी पर नहीं था; परन्तु अब जीवन विद्यमान है, इसलिये अवश्य उसका प्रारम्भ किसी समय हुआ होगा। इसके साथ ही यह बात भी है कि अभाव से अभाव ही उत्पन्न होता है, अभाव से भाव नहीं होता। इसलिये अवश्य जगत् के रचयिता की सत्ता माननी पड़ती है। उसी ने प्राकृतिक जगत् रचा और जीवन को प्रादुर्भूत किया—यह भी स्वीकार करना पड़ता है।"

प्रोफैसर सिलवानस थॉम्पसन[1] ने तो ईश्वर, जीव, प्रकृति, तीनों की अनादि सत्ता स्वीकार की।

प्रकृति के सारे भौतिक पदार्थों की कार्य-प्रणाली को देखकर सर ऑलिवर लॉज (Sir Oliver Lodge) ने अपने पुस्तक 'Survival of

---

1. Science and Religion by Seven Men of Science, I. 115—129.

Man' में स्पष्ट लिखा है—"मेरा विचार यह है कि एक आत्मिक सत्ता चित्त में है जो यह सब कार्य करती है। वही इच्छा को प्रभावित करती है, उसी सत्ता द्वारा उत्तेजना आत्म-जगत् से प्राकृतिक जगत् में पहुँचती है।"

सर लॉज ने शरीर में जिस प्रकार से सारा कार्य होता है, यह अन्दर का कारखाना कैसे चलता है, किस नाड़ी से क्या होता है, इन सब पर दृष्टि डालते हुए अन्त में यही निश्चय किया कि आत्मा के बिना यह कारखाना चल नहीं सकता।

पश्चिमी विद्वान् और वैज्ञानिक अधिकतर अब इसी सिद्धान्त को स्वीकार करने लगे हैं कि भौतिक पदार्थों और तत्त्वों के अतिरिक्त आत्मा की शक्ति भी है और उसी की प्रेरणा से सारे कार्य होते हैं।

हमारे पूर्वजों ने यह तथ्य कैसे जाना ?

परन्तु हमारे पूर्वजों ने तो यह तथ्य करोड़ों वर्ष पूर्व ही जान लिया था और वेद भगवान् तथा समाधि द्वारा प्रत्यक्ष भी कर लिया था।

गौतम मुनि ने 'न्याय-दर्शन' में स्पष्ट बतलाया है कि ईश्वर, जीव, और प्रकृति तीनों नित्य, अनादि और स्वतन्त्र सत्तावाले हैं।

इसी कारण कणाद मुनि भी 'वैशेषिक दर्शन' में ईश्वर, जीव, प्रकृति, तीनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं। पतञ्जलि मुनि भी तीनों को नित्य और स्वतन्त्र सत्तावाले मानते हैं। कपिल मुनि भी जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता का समर्थन करते हैं।

प्राचीन काल में एक बार विद्वानों के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह सारा संसार क्या है ? हमारा जन्म कैसे और क्यों हो गया ? ये सुख-दुःख क्या हैं ? यह मृत्यु क्या है ? क्या 'काल' इस जगत् का कारण है ? हम देखते हैं कि सब वस्तुएँ ऋत्वनुसार होती हैं और सभी काल का ग्रास बनते हैं, परन्तु फिर यह बात समक्ष आ जाती है कि जिसका जैसा अपना स्वभाव (नेचर—Nature) होता है वैसा ही वह कार्य करता है। अग्नि का स्वभाव जलाना है, पानी का आग को शान्त करना है। आग न पानी को शान्त करती है, न जल अग्नि को जलाता है। गेहूँ ही गेहूँ उत्पन्न करता है, चावल नहीं। तो क्या संसार

का कारण 'स्वभाव' है ? इसके साथ यह भी देखा जाता है कि हम योजनाएँ कुछ बनाते हैं और हो कुछ और ही जाता है—तब क्या संसार का कारण 'होना' या 'नियति' है ? फिर क्या यह सब-कुछ 'यदृच्छा' (चान्स—Chance) से ही हो गया ? या आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी के तत्त्व ही कारण हैं ? ये सारे संशय जब उत्पन्न हुए तो इनपर पूरा विचार करने पर भी वे किसी एक परिणाम पर न पहुँच सके। उन्होंने तब दूसरा मार्ग पकड़ा और ध्यान तथा समाधि के द्वारा इस समस्या को सुलझाया। उन्होंने समाधि में प्रत्यक्ष देखा कि संसार का कारण परमात्मा की निज शक्ति है। इसका वर्णन 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में इस प्रकार किया है :

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

श्वेता० १ । ३ ॥

'उन्होंने ध्यान और समाधि में मग्न हो अपने कार्यों (सूर्य आदि) के अन्दर छिपी हुई, परमात्मा की निज शक्ति को प्रत्यक्ष देखा—जो परमात्मा अकेला काल वा आत्मा-समेत उन सारे कारणों का अधिष्ठाता है।'

जिन तथ्यों को आजकल के वैज्ञानिक बड़ी-बड़ी लेबॉरेटरी के होते हुए भी अभी तक पा नहीं सके, हमारे ऋषियों ने वे सारे तथ्य ध्यान और समाधि-अवस्था में पहुँचकर पा लिये थे; सृष्टि-रचना के एक-एक तत्त्व को प्रत्यक्ष करके देख लिया था। उन सब का व्यक्तिगत और सामूहिक अनुभव भी यही था कि यह संसार एकमात्र भगवान् की सामर्थ्य से बना है। उसी ने प्रकृति को प्रेरणा दी और यह जगत् जीवात्मा के हितार्थ प्रकट हो गया है।

यह संसार क्या है ?

अब सब प्रश्नों से बड़ा प्रश्न यह सामने आता है कि चौबीस भौतिक या अनात्म-तत्त्वों की बात भी समझ ली और इन चौबीस के अतिरिक्त जीवात्मा तथा ईश्वर इन दो आत्म-तत्त्वों का भी कुछ वर्णन सुन लिया, परन्तु जब यह ससार जीव के हितार्थ ही बनाया

गया था तो फिर यह सारा प्रपंच दुःख क्यों दे रहा है ? और क्यों हम इस झगड़े में फँस गये हैं ? कुछ लोग तो संसार के दुःखों तथा क्लेशों को देखकर यही कहने लगे हैं कि क्यों व्यर्थ जीवन नष्ट करते हो ? खाओ, पियो और मौज उड़ाओ ! यह दुनिया हँसने, नाचने, गाने तथा मज़े उड़ाने के लिए बनी है। एक समय ऐसे ही लोगों का एक देश में राज्य हो गया था जो नाना स्वादु पदार्थ खाते-पीते और फिर औषध लेकर वमन कर देते तथा फिर खाने में जुट जाते थे। भारत में तो एक संप्रदाय ही ऐसा प्रकट हो गया जिसने काम-वासना को पूर्ण करना और मद्य पीते-पीते मर जाना ही मुक्ति का साधन समझ लिया। आधुनिक काल में यह विचार बढ़ता ही चला जा रहा है कि खाना, पीना और तमाशे देखना ही जीवन का लक्ष्य है। दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जो दुःखों से पीड़ित संसार को देखकर इससे सर्वथा मुख मोड़ बैठे हैं। मिस्टर के०एच० Holmes तो यह कहता है कि यह सारी दुनिया एक धोखा है, केवल खोखलापन है और कोरी विडम्बना है; जिस प्रकार दूसरी बुराइयों को छोड़ना है, ऐसे ही इस एक बड़ी बुराई का त्याग भी करना होगा। भारत में कितने ही त्यागी और विरक्त महात्मा सांसारिक पदार्थों का सर्वथा त्याग करके वनों में जा बैठे और केवल आत्म-चिन्तन के लिए जीवित हैं।

खाओ, पियो, मौज उड़ाओ के अतिरिक्त

एक तीसरे प्रकार के लोग भी हैं जो न 'खाओ, पियो, मौज उड़ाओ' पर चलते हैं, न ही दुनिया से मुँह मोड़ते हैं, अपितु संसार में रहकर कष्ट-दुःख भोगते हैं, फिर भी अपने कर्त्तव्य को पूरा करते रहते हैं। इनमें से कुछ लोग ऐसे भी हैं जो जीवन को बिना किसी प्रयोजन तथा बिना उद्देश्य के समझते हैं, जिन्हें भविष्य अन्धकारमय दिखलाई देता है और जो वर्तमान को भी अन्यन्त दुःखवादियों के समान दुःख-रूप ही देखते हैं। ऐसे निराश-हताश लोग यह समझते हैं कि मनुष्य ऐसे ही जन्म ले लेता है, फिर खान-पान तथा मान के लिए दिन-रात परिश्रम करता है। बालक से युवक, युवा से वृद्ध होकर मर जाता है। एक मरता है, दूसरा जन्म लेता है। वह मृत्यु का ग्रास होते लोगों को

देखता है और अपनी मृत्यु को भूलकर उसी चक्र में फँसा रहता है। कुछ अन्न खाकर, पानी पीकर, वस्त्रों का प्रयोग करके, कुछ इन्द्रियों के विषयों की अग्नि में समिधाएँ डालकर चल देता है। कहाँ ? यह आज तक कोई भी बतला नहीं सका और यह क्रम पता नहीं कब से चल रहा है और कब तक चलता रहेगा ?

संसारी जीवों की वेदना

इस दुनिया में जो फिर ऐसा जीवन व्यतीत करते हैं, क्या वे इसी पर सन्तुष्ट हो जाते हैं ?—नहीं; वे और आगे बढ़ते हैं। वे अपनी कामनाओं को एक देश का सामूहिक रूप देते हैं और उसको पूर्ण करने के लिए आसुरी शक्तियों का आह्वान करते हैं। तब युद्धों की तैयारियाँ होने लगती हैं। मनुष्य ही मनुष्य का संहार करने लगता है, रक्त की नदियाँ चलती हैं, मानवता किनारे खड़ी रुदन करती है। कितनी देवियाँ विधवा, कितने बालक अनाथ, कितने मनुष्य बिना हाथ-पाँव के हो जाते हैं। मनुष्य भयङ्कर व्याघ्र बन जाता है। यह क्या जीवन हुआ ? यह क्या जीवन-उद्देश्य हुआ ?

फिर जो वेदना, पीड़ा, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष की अग्नि संसारी लोगों में भड़क रही है, इसे देखकर तो इस संसार से चित्त और भी ऊब जाता है। संसार की ऐसी अवस्था देखकर ही बौद्ध धर्म-ग्रन्थ 'धम्मपद' की गाथा १४५ में यह पुकारा गया है :

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।

'जब यह संसार नित्य जलते घर के समान है, तब यहाँ हँसी क्या हो सकती है और आनन्द क्या मनाया जा सकता है ?'

: ७ :

भगवान् राम की व्यथा की कथा

इस संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थों का अवलोकन करके भगवान् राम जितने दुःखित हुए, इतना और कौन होगा ? 'योगवासिष्ठ' में यह मार्मिक वर्णन लगभग १५० पृष्ठों में भगवान् राम की वाणी से कराया गया है। इस व्यथा की कथा लिखने का प्रयोजन यह है कि जब तक संसारी भोग-पदार्थों से वैराग्य नहीं होता, तत्त्वज्ञान को समझने की बुद्धि तब तक प्रकाशित नहीं होती। दर्पण से जब कूड़ा तथा मैल हटे, तभी तो मुखड़ा दिखाई दे सकेगा !

भगवान् राम की वाणी से जो कुछ कहलवाया गया है, उसे पढ़कर हर प्रकार के हृदय पर एक गम्भीर चोट लगती है और यह लगनी ही चाहिए, क्योंकि मानव को सार-वस्तु तभी मिल सकती है जब ऊपर की असार वस्तुओं को परे हटा दिया जाय। अब भगवान् राम की व्यथा की कथा सुनिये :

भगवान् राम अभी छोटी ही आयु के थे। तीर्थ-यात्रा में उन्होंने संसार की जो अवस्था देखी, उससे वे अत्यन्त खिन्न रहने लगे। उन्हें कोई भी वस्तु अच्छी न लगती। न हँसते, न रोते, न गाते; एकान्त में मौन साधे बैठे रहते। शरद् ऋतु की समाप्ति में वृक्ष की जैसी अवस्था होती है, वैसे ही श्री राम प्रतिदिन दुबले-पतले और पीले होते जाते। श्री वाल्मीकि जी लिखते हैं :

किं धनेन किमम्बाभिः किं राज्येन किमीहया ?
इति निश्चयवानन्तः प्राणत्यागपरः स्थितः ॥ ४६ ॥

योगवासिष्ठ, वैराग्य प्रकरण, सर्ग १० ॥

'धन से क्या होगा ? माताओं से क्या होगा ? इस विस्तृत राज्य से कौन प्रयोजन सिद्ध होगा ? किसी झूठी वस्तु की इच्छा से क्या ? इस प्रकार का निश्चय करके प्राण-त्याग करने की इच्छा करने लगे।'

इन्हीं दिनों में विश्वामित्र जी महाराज दशरथ के पास पहुँचे कि उनके यज्ञ की रक्षा के लिए श्री राम को उनके साथ भेजा जाय। भगवान् राम तो उदास-हताश थे, फिर भी उन्हें बुलाया गया। गुरु वसिष्ठ जी महाराज भी वहीं विद्यमान थे। श्री राम ने दरबार में पहुँचकर अपनी मानसिक अवस्था बतलाते हुए संसार में एक-एक वस्तु से उपरामता प्रकट की और कहा :

अहं तावदयं जातो निजेऽस्मिन् पितृसद्मनि।
क्रमेण वृद्धिं संप्राप्तः प्राप्तविद्यश्च संस्थितः॥ ३॥
ततः सदाचारपरो भूत्वाऽहं मुनिनायक!
विहृतस्तीर्थयात्रार्थ—मुर्वीमम्बुधिमेखलाम्॥ ४॥

योगवा० सर्ग १२॥

'मैं यहाँ अपने पिता के घर में उत्पन्न हुआ, क्रम से बढ़ा और मैंने विद्या भी प्राप्त की। उसके पश्चात् मुनिनायक! सदाचरणों के अनुष्ठान में तत्पर होकर तीर्थ-यात्रा के लिए समुद्र-पर्यन्त पृथिवी के चारों ओर विचरा'॥ ३॥ ४॥

एतावताऽथ कालेन संसारावस्थामिमां हरन्।
समुद्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः॥ ५॥

'इस बीच में इस संसार पर आस्था को हरनेवाला यह विचार मेरे मन में उत्पन्न हुआ, जिसे मैं आपके सामने उपस्थित करता हूँ'॥ ५॥

अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः।
आपदां पतयः पापा भावा विभवभूमयः॥ २॥

'चर और अचरों की चेष्टाओं से युक्त वैभवकाल में रहनेवाले ये जितने भोग के पदार्थ हैं, ये आपत्तियों के ही स्वामी अर्थात् मूल हैं और पाप के हेतु हैं।'

मृगतृष्णा जल की तरह

असतैव वयं कष्टं विकृष्टा मूढबुद्धयः।
मृगतृष्णाम्भसा दूरे वने मुग्धमृगा इव॥ ११॥

'जैसे मरीचिका को जल समझकर मुग्ध मृग वन में बड़ी दूर तक

इधर-उधर भटकते रहते हैं फिर भी कुछ नहीं मिलता है, हम मूढ़बुद्धि लोग भी वैसे ही इस संसार में असत् पदार्थों को सुख के साधन समझकर इधर-उधर खूब भटकते रहते हैं, पर हाथ कुछ नहीं लगता।'

न केनचिच्च विक्रीता विक्रीता इव संस्थिता।
बत मूढा वयं सर्वे जानाना अपि शाम्बरम्॥ १२॥
किमेतेषु प्रपञ्चेषु भोगा नाम सुदुर्भगाः।
मुधैव हि वयं मोहात् संस्थिताः बद्धभावनाः॥ १३॥

'यद्यपि हम लोग किसी के द्वारा बेचे नहीं गये हैं, तथापि बेचे गये प्राणियों के समान परवश होकर बैठे हुए हैं। अत्यन्त खेद है कि माया को जानते हुए भी मूढ़ ही हैं क्योंकि उसकी चिन्ता नहीं करते' ॥१२॥

'इस संसाररूप प्रपंच में ये जो अभागे लोग हैं वे कौन वस्तु हैं कि हम लोग उनके व्यर्थ मोह में या भ्रान्ति में बद्ध होकर अवस्थित हैं' ॥ १३ ॥

शाम्यतीदं कथं दुःखमिति तप्तोऽस्मि चिन्तया।
जरद् द्रुम इवोग्रेण कोटरस्थेन वह्निना॥ २१॥
संसारदुःखपाषाण — नीरन्ध्रहृदयोऽप्यहम्।
निजलोकभयादेव गलद्बाष्पं न रोदिमि॥ २२॥

'जैसे पुराना वृक्ष अपने खोखले में रहनेवाली उग्र अग्नि से जल जाता है, वैसे ही हे मुनिश्रेष्ठ! मेरा इस दुःख से छुटकारा कैसे होगा? ऐसी चिन्तारूप अग्नि से मैं सदा जलता रहता हूँ॥ २१॥ संसार के दुःखरूप पाषाण से मेरा अन्तःकरण जर्जर हो गया है। मैं अपने मित्रों और लोक से डरकर अश्रूपूर्ण नेत्रों से नहीं रो रहा हूँ, क्योंकि यदि मैं रोना आरम्भ करूँ तो वे भी रोने लगें' ॥ २२ ॥

अपनी व्यथा का कुछ वर्णन करके अब श्री राम ने लक्ष्मी के सम्बन्ध में कहना आरम्भ किया :

मोहयन्ति मनोवृत्तिं खण्डयन्ति गुणावलिम्।
दुःखजालं प्रयच्छन्ति विप्रलम्भपराः श्रियः॥ २५॥

'वंचना से भरपूर यह लक्ष्मी अन्तःकरण की वृत्तियों को मुग्ध करती है, गुणों को नष्ट करती है और अनेक तरह के दुःखों को देती है।'

चिन्ता दुहितरो बह्वयो भूरि दुर्ललितैर्विताः ।
चंचलाः प्रभवन्त्यस्यास्तरङ्गाः सरितो यथा ।। ३।। सर्ग १३ ।।

'हे मुनिवर ! चिन्ताएँ श्री (लक्ष्मी) की पुत्रियाँ हैं । जैसे नदी से असंख्य तरंगें उत्पन्न होती हैं, फिर वे वायु की सहायता से बढ़ती हैं, वैसे ही श्री से असंख्य चिन्तारूप पुत्रियों की उत्पत्ति होती है, तदुपरान्त विविध दुश्चेष्टाओं द्वारा उनकी वृद्धि होती है ।'

धन-सम्पत्ति की वृद्धि से दुःखी

प्राज्ञाः शूराः कृतज्ञाश्च पेशला मृदवश्च ये ।
पांसुमुष्ट्येव मणयः श्रिया ते मलिनीकृताः ।। ९ ।।
न श्रीः सुखाय भगवन् दुःखायैव हि वर्धते ।
गुप्ता विनाशनं धत्ते मृतिं विषलता यथा ।। १० ।।

'जैसे धूल के कण मणियों को मलिन कर देते हैं, वैसे ही बड़े-बड़े विद्वान्, शूरवीर, दूसरे के उपकार न भूलनेवाले, दक्ष और मृदुभाषी पुरुषों को भी धन-सम्पत्ति मलिन कर देती है ।।९।। भगवन् ! सम्पत्ति की वृद्धि से दुःख ही होता है, सुख नहीं होता । जैसे विष-लता केवल मृत्यु का ही कारण होती है, वैसे ही श्री भी सुख का कारण न होकर दुःख ही का कारण होती है' ।। १० ।।

मनोरमा कर्षति चित्तवृत्तिं कदर्थसाध्या क्षणभंगुरा च ।
व्यलावलीगात्रविवृत्तदेहा श्वभ्रोत्थिता पुष्पलतेव लक्ष्मी ।। २ ।।

'यह लक्ष्मी मनोहर है, अतएव चित्तवृत्ति को अपनी ओर खींचती है । मरण, पतन आदि के कारण साहसिक कर्मों से प्राप्त होती है और बिजली के समान क्षणभर में नष्ट हो जाती है । अतः यह सर्पों से लिपटी हुई गढ़े में उत्पन्न हुई पुष्पलता के समान है ।'

आयु भागती हुई चली जा रही है

लक्ष्मी की असारता कहकर श्री राम जी आयु के सम्बन्ध में कहते हैं :

आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभंगुरम् ।
उन्मत्तमिव संत्यज्य यात्यकाण्डे शरीरकम् ।।१।। सर्ग १४।।

'जीव की आयु पत्ते के सिरे पर लटक रहे जल-बिन्दु (ओस) के

सदृश अस्थिर है। वह उन्मत्त के समान असमय में ही कुत्सित शरीर को छोड़कर चली जाती है।'

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम्।
ग्रथनं च तरङ्गाणामास्था नाऽऽयुषि युज्यते॥ ५॥

'वायु का घेरा हो सकता है, आकाश के टुकड़े-टुकड़े किये जा सकते हैं और लहरें एक-दूसरे में माला की तरह गूँथी जा सकती हैं, पर आयु में विश्वास नहीं किया जा सकता।'

हाँ, अपने परम लक्ष्य की ओर चलनेवालों के लिए यह सुखप्रद है। इसके सम्बन्ध में श्री राम कहते हैं :

ते तु विज्ञातविज्ञेया विश्रान्ता वितते पदे।
भावाभावसमाश्वासमायुस्तेषां सुखायते॥ ६॥

'जो लोग ज्ञातव्य वस्तु (आत्म-तत्त्व) को जान चुके हैं, आसीन ब्रह्म में विश्रान्त हैं और जिनके जीवन में लाभ-हानि तथा सुख-दुःख में चित्तवृत्ति समान रहती है, उन महापुरुषों की आयु ही लाभदायक है'॥ ३॥

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्तु मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेन तु जीवति॥ ११॥

'वृक्ष भी जीते हैं और मृग-पक्षी भी जीते हैं, पर उसी पुरुष का जीना जीना है जिसका मन मनन के फलस्वरूप तत्त्वज्ञान से या वासना के क्षय से स्वच्छ हो जाता है।'

भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः॥ १३॥

'अपवित्र देह में आत्म-बुद्धि करनेवाले अविवेकी के लिए शास्त्र भारभूत है (भार के समान व्यर्थ श्रम का ही कारण है)। विषयानुरागी पुरुष के लिए तत्त्वज्ञान भार है। अशान्त पुरुष के लिए मन भार है और अनात्मवान् के लिए शरीर भार है।'

और यह अहङ्कार

आयु की बात कहकर फिर श्री राम जी अहंकार का वर्णन करते हैं :

अहङ्कारवशादापदहङ्काराद् दुराधयः ।
अहङ्कारवशादीहा त्वहङ्कारो ममाऽऽमयः ॥ ३ ॥

'अहंकार से ही विविध आपत्तियाँ—'शारीरिक कष्ट' होते हैं। अहंकार से ही अनेक भीषण मानसिक क्लेश होते हैं और अहंकार से ही विषयानुराग अथवा दुश्चेष्टाएँ होती हैं। मेरा रोग अहंकार ही है।'

यानि दुःखानि दीर्घाणि विषमाणि महान्ति च ।
अहङ्कारात् प्रसूतानि तान्यगात् खदिरा इव ॥ ६ ॥

'जैसे पर्वत से खैर के वृक्षों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही संसार में जितने चिरकाल-स्थायी भीषण महादुःख हैं, उनकी उत्पत्ति अहंकार से ही हुई है।'

फिर चित्त तथा मन का प्रसङ्ग राम जी ने चलाया और कहा :

न प्राप्नोति क्वचित्किञ्चित् प्राप्तैरपि मयाधनैः ।
नाऽन्तःसंपूर्णतामेति करण्डक इवाम्बुभिः ॥ ३ ॥
सर्ग १६ ॥

'अत्यन्त व्याकुल चित्त, युक्त और अयुक्त विचार के बिना इधर-उधर दूर से भी दूरतर प्रदेश तक, ग्राम में कुत्ते की तरह घूमता है, कहीं भी अपनी इच्छापूर्ति के उपाय को न पाकर दीन-हीन बना रहता है।'

तरङ्गतरलां वृत्ति दधदालूनशीर्णताम् ।
परित्यज्य क्षणमपि हृदये याति न स्थितिम् ॥ २२ ॥

'तरङ्गों के समान चंचल वृत्ति को धारण कर रहा मेरा मन स्थूल और सूक्ष्म अवयवों के छेद के सिवा एक क्षण के लिए भी अपने स्थान पर स्थिरता को प्राप्त नहीं होता।'

चेतः पतति कार्येषु विहगः स्वामिषेष्विव ।
क्षणेन विरतिं याति बालः क्रीडनकादिव ॥ २३ ॥

'जैसे मांस-भक्षी चील, कौए आदि पक्षी मांस को देखते ही उसे खाने के लिए दौड़ पड़ते हैं, हित और अहित का विचार नहीं करते; जैसे बालक खिलौने को देखते ही उसपर टूट पड़ता है और थोड़ी देर के पश्चात् उसे छोड़कर दूसरा खेल खेलने लगता है; वैसे ही मन भी

इन्द्रियों द्वारा देखे गये विषयों में टूट पड़ता है, हित और अहित का विचार नहीं करता और क्षणभर में उससे विरक्त भी हो जाता है।'

अब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि।
अपि वह्न्यशनात् साधो विषमश्चित्तनिग्रहः॥ २४॥

'हे साधो ! समुद्र को पीने, सुमेरु पर्वत को उखाड़ने और आग के अंगारे सटक जाने से भी कठिन चित्त को अपने वश में करना है।'

संसारजलधेरस्मान्नित्यमुत्तरणोन्मुखः।
सेतुनेव पयःपूरो रोधितोऽस्मि कुचेतसा॥ १८॥

'इस संसाररूपी सागर से पार होने के लिए नित्य उद्योग कर रहे मुझको यह कुत्सित चित्त इस भाँति रोकता है जैसे कि जल के प्रवाह को बाँध रोकता है।'

तृष्णा ! हा तृष्णा !

तृष्णा क्या खेल खेलती है, इसपर भी राम ने प्रकाश डाला और कहा :

यां यां महतीमवस्थां संश्रयामि गुणश्रियम्।
तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका॥ १८॥ सर्ग १७॥

'मैं विवेक, वैराग्य आदि-आदि गुणों से युक्त पदार्थों के विषय में जिस-जिस अवस्था का (उत्साह का) आश्रयण करता हूँ, उस-उस अवस्था को मेरी तृष्णा इस तरह काट देती है जिस तरह मूषिका (चुहिया) वीणा के चर्म-सूत्र को काट देती है।'

सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसङ्कटे॥ ३२॥

'संसार में जितने दोष हैं उनमें एक तृष्णा ही दीर्घ काल तक दुःख देनेवाला दोष है जो अन्तःपुर में रहनेवाले को भी भीषण संकट में डाल देती है।'

व्यवहाराब्धिलहरी मोहमातङ्गशृङ्खला।
सर्गन्यग्रोधसुलता दुःखकैरवचन्द्रिका॥ ३८॥
जरामरणदुःखानामेका रत्नसमुद्गिका।
आधिव्याधिविलासानां नित्यं मत्ता विलासिनी॥ ३९॥

'तृष्णा व्यवहाररूपी समुद्र की लहरी है। मोहरूपी पत्त मातंग की श्रृङ्खला है। सृष्टि-रूप वट-वृक्ष की सुन्दर लता है। दुःखरूप कुमुदिनियों की चन्द्रिका है। जरा-मरणरूप दुःखों की एक रत्न-पेटिका है और सदा आधि-व्याधिरूप विलासों की मदमत्त विलासिनी है।'

नाऽसिधारा न वज्रार्चिर्न तप्तायःकणार्चिषः।
यथा तीक्ष्णा तथा ब्रह्मंस्तृष्णेयं हृदि संस्थिता ॥ ४८ ॥

'हे ब्रह्मन्! जीवों के हृदय में स्थित तृष्णा जैसी तीक्ष्ण है, वैसी तीक्ष्ण न तो तेज़ तलवार की धार है, न वज्राग्नि की चिनगारियाँ हैं और न बन्दूक की गोलियाँ ही हैं।'

अपि मेरुसमं प्राज्ञमपि शूरमपि स्थिरम्।
तृणीकरोति तृष्णैका निमेषेण नरोत्तमम् ॥ ५० ॥

'मेरु के सदृश अति उन्नत, गौरवशाली, पराक्रमी, स्थिरचित्त, व्रत से अटल एवं विद्वान् नरश्रेष्ठ को भी एकमात्र तृष्णा ही एक क्षण में याचना द्वारा दीन-हीन बनाकर तिनके के समान उपेक्षणीय और चञ्चल बना देती है।'

यह मानव-शरीर

यह तृष्णा का मूल कारण तो मानव-शरीर है, इसलिए राम जी मनुष्य-शरीर से भी उकता गये और कहने लगे :

"शरीररूपी पाकड़ का वृक्ष मुझे सुखकारक प्रतीत नहीं होता। यह संसाररूपी जंगल में उत्पन्न हुआ है। चित्तरूपी चपल बन्दर इसमें इधर-उधर कूदता-फाँदता है। चिन्तारूपी मंजरी से यह फूला हुआ है। महादुःखरूपी घुनों ने इसके चारों ओर छेद कर रखे हैं। तृष्णारूपी सर्पिणी का यह घर है। कोपरूपी कौए ने इसमें घोंसला बना रखा है।"

समस्तरोगायतनं वलीपलितपत्तनम्।
सर्वाधिसारगहनं नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३४ ॥ सर्ग ८ ॥

'यह देह सम्पूर्ण रोगों का घर, बुढ़ापे के कारण पड़नेवाली झुर्रियों और केशों की सफेदी का नगर है इसमें। मानसिक क्लेशों का ही प्रधानरूप से साम्राज्य है। अतः उनसे इसकी गहनता का कोई ठिकाना नहीं है इसलिए यह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है।'

रक्तमांसमयस्याऽस्य स बाह्याभ्यन्तरं मुने !
नाशैकधर्माणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥३८॥

'मुनिवर ! रक्त और मांस से विरचित विनाशशील इस देह के बाहर और भीतर भली-भाँति देखकर कहिये कि इसमें कौन-सी रमणीयता है ।'

नश्वर देह की अस्थिरता के बारे में चर्चा करते हुए श्री राम ने उत्तम पुरुष की पहचान कराते हुए कहा :

'न मैं देह हूँ, न देह का सम्बन्धी हूँ, न मेरा देह है और न मैं ही देह का हूँ, ऐसा विचारकर परमात्मा में जिनका चित्त विश्रान्त है, वे लोग ही पुरुषोत्तम हैं ।'

शरीरश्च अशायिन्या पिशाच्या पेशलांगया ।
अहङ्कारचमत्कृत्या छलेन छलिता वयम् ॥ ५५ ॥

'शरीररूपी गढ़े में रहनेवाली मनोहर भोग-तृष्णारूपिणी पिशाची ने कपट से हमें संसार में पटककर हमारा सर्वस्व हर लिया है ।'

संसारी लोगों की दयनीय अवस्था

श्री राम जी मानव-देह का वर्णन करते हुए फिर इसकी बाल्य-अवस्था, यौवन तथा वृद्ध-अवस्था के दुःख सुनाकर गुरु वसिष्ठ जी से काल-गति की कथा कहते हैं कि यह काल संसार में उत्पन्न हुई हर-एक वस्तु को खाता चला जाता है । यह सर्वभक्षी काल सबको नष्ट कर रहा है । यह अत्यन्त निर्दय, पाषाण से भी कठोर, क्रूर, कर्कश, कृपण और अधम है । असंख्य लोग इसकी उदरदरी में समा चुके हैं पर इस पेटू का पेट भरता ही नहीं ।'

तत्पश्चात् श्री राम जी संसारी लोगों की दयनीय अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं :

कलाकलङ्कितो लोको बान्धवो भवबन्धनम् ।
भोगा भवमहारोगास्तृष्णाश्च मृगतृष्णकाः ॥१०॥ सर्ग २६ ॥

'सभी संसारी लोग विषयों के अनुसन्धान से ही कलंकित (मलिन-चित्त) हैं । बन्धु-बान्धव संसाररूप बन्धन के लिए रज्जुरूप हैं । सभी

भोग संसाररूपी महारोग हैं; सुख आदि तृष्णाएँ मृगतृष्णा के अनुरूप हैं।'

तप्यते केवलं साधो मतिराकुलितान्तरा।
रागरोगो विलसति विरागो नोपगच्छति ॥ १५ ॥

'साधो! बुद्धि ने सभी के अन्तःकरण को व्याकुल कर रखा है। किसी का अन्तःकरण सुखी नहीं; केवल दुःख-ही-दुःख छाया है। रागरूपी रोग दिन-दिन बढ़ रहा है, वैराग्य का कहीं पता नहीं है।'

रजोगुणहता दृष्टिस्तमः संपरिवर्धते।
न चाऽधिगम्यते सत्त्वं सत्त्वमत्यन्तदूरतः ॥ १६ ॥
स्थितिरस्थिरतां याता मृत्युरागमनोन्मुखी।
धृतिर्वैधुर्यमायाता रतिर्नित्यमवस्तुनि ॥ १७ ॥

'आत्म-दर्शन-शक्ति रजोगुण से नष्ट हो गई है, तमोगुण बढ़ रहा है, सत्त्वगुण का कहीं पता नहीं एवं तत्त्व-पदार्थ अत्यन्त दूर है ॥१६॥ जीवन अत्यन्त अस्थिर है। मृत्यु आने के लिए तैयार ही है। धैर्य का सर्वथा विनाश हो गया है, फिर भी लोगों का तुच्छ विषयों में अनुराग नित्य बढ़ता जा रहा है' ॥ १७ ॥

यत्नेन याति युवता दूरे सज्जनसङ्गति।
गतिर्न विद्यते काचित्क्वचिन्नोदेति सत्यता ॥ १८ ॥

'दिन-प्रतिदिन जवानी प्रयत्नपूर्वक भाग रही है। सत्सङ्गति का कहीं पता नहीं है। जिससे दुःख से छुटकारा प्राप्त हो जाय, ऐसी कोई गति नहीं और सत्यता का उदय तो किसी में भी नहीं दिखाई देता' ॥ १८ ॥

मनो विमुह्यतीवाऽन्तर्मुदिता दूरतां गता।
नोज्ज्वला करुणोदेती दूरादायाति नीचता ॥ २० ॥

'अन्तःकरण मोहजाल से अत्यन्त आच्छन्न-सा हो गया है। दूसरे को सुखी देखकर होनेवाले सन्तोष का कहीं पता नहीं है। उज्ज्वल करुणा का उदय कहीं नहीं होता और नीचता न मालूम कहाँ से चली आ रही है' ॥ २० ॥

सर्व एव नरा मोहाद् दुराशापाशपाशिनः।
दोषगुल्मकसारंगा विशीर्णा जन्मजंगले ॥ ४१ ॥

'दोषरूपी झाड़ियों में स्थित मृगों या पक्षियों के तुल्य सभी मनुष्य अज्ञान में दुराशारूपी जाल में बँधकर जन्मरूपी जंगल में विनष्ट हो गये हैं' ॥ ४१ ॥

अद्योत्सवोऽयमृतुरेष तथेह यात्रा,
ते बान्धवाः सुखमिदं सविशेषभोगम्।
इत्थं मुधैव कलयन्सुविकल्पजाल,
मालोलपेलवमतिर्गलतीह लोकः ॥४३॥

'आज उत्सव है, यह सुहावनी ऋतु है, इसमें यात्रा करनी चाहिये, ये हमारे बान्धव हैं, विशिष्ट भोगों से युक्त यह सुख है—यों वृथा ही संकल्प-विकल्प करते हुए इस संसार में चचल और मृदु बुद्धिवाले लोग नष्ट हो जाते हैं' ॥ ४३ ॥

बाल्ये गते कल्पितकेलिलोले मनोमृगे दारदरीषु जीर्णे।
शरीरके जर्जरतां प्रयाते विदूयते केवलमेव लोकः ॥
सर्ग २७ ॥

'बाल्य-अवस्था विविध प्रकार से कल्पित क्रीड़ा-कौतुक में ही बीत जाती है (उसमें चित्त की स्थिरता का लेश भी नहीं रहता)। तदुपरान्त यौवन पदार्पण करता है। यौवन में चित्तरूपी मृग दारा-रूपी गुफाओं ही में जीर्ण हो जाता है, तब भी शान्ति नहीं और वृद्धावस्था में शरीर जीर्ण-शीर्ण हो ही जाता है (उसमें भी शान्ति नहीं)। यों पुरुषार्थ-साधन से शून्य अतएव व्यर्थ आयु के यापन से मनुष्यों को दुःख-ही-दुःख प्राप्त होता है (सुख-शान्ति का कहीं लेश भी नहीं)' ॥२७॥

अनित्यश्चाऽसुखो लोकतृष्णा तात दुरुद्वहा।
चापलोपहतं चेतः कथं यास्यामि निर्वृतिम् ॥ ७ ॥

'यह संसार सुखरहित और विनाशी है। तृष्णा (विषय-वासना) बड़ी तीव्र है और चित्त की चंचलता की कोई सीमा नहीं है; उससे शान्तिलाभ की आशा दुराशा ही है। मैं कैसे निवृत्तिलाभ करूँगा, यही मैं सदा विचार करता हूँ' ॥ ७ ॥

जन्मावलिवस्त्रायामिन्द्रियग्रन्थयो दृढाः ।
ये बद्धास्तद्विमोक्षार्थं यतन्ते ये त उत्तमाः ।। १० ।।

'इन्द्रियों का विषयों की आसक्ति से मुक्त होना बड़ा ही कठिन है। अतएव इन्द्रियाँ ठहरीं कभी न सुलझनेवाली दृढ़ ग्रन्थियाँ; उन ग्रन्थियों द्वारा जन्म-परम्परारूपी चमड़े की रस्सी में बाँधे गये जीवों में से जो लोग उससे छुटकारा पाने के लिए यत्न करते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं' ।। १० ।।

विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते ।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम् ।। १३ ।।

'कुटिल विषय ही विष है; प्रसिद्ध विष विष नहीं है, क्योंकि विष एक ही देह का (जिस देह से उसका सम्बन्ध होता है) विनाश करता है, पर विषय तो अन्य जन्मों में भी देह को मृत्यु के मुँह में डालते हैं' ।। १३ ।।

क्रकचाग्रविनिष्पेषं सोढुं शक्नोम्यहं मुने !
संसारव्यवहारोत्थं नाऽऽशा विषयवैशसम् ।। १८ ।।

'यदि कोई मुझे आरे से चीरे तो मैं आरे के दाँतों की रगड़ सहने के लिए समर्थ हूँ; परन्तु सांसारिक व्यवहार से उत्पन्न एवं आशा और विषयों से होनेवाले संघर्ष को मैं सहने के लिए समर्थ नहीं हूँ' ।। १८ ।।

एवमभ्युत्थितानर्थं शतसङ्कटकोटरे ।
जगदालोक्य निर्मग्नं मनो मननकर्दमे ।। १ ।। सर्ग ३० ।।

'इस प्रकार सैकड़ों अनर्थों से परिपूर्ण संसाररूपी अन्धे कुएँ के छिद्र में सम्पूर्ण प्राणियों को मग्न देखकर मेरा मन चिन्तारूपी कीचड़ में फँस गया है' ।। १ ।।

क्या है कोई उपाय ?

लग्नेनाऽपि किलाऽङ्गेषु बहुधा बहुमानद ।
कथं संसारपङ्केन पुमानहि न लिप्यते ।। १३ ।।

'इस संसार में वह कौन-सा उपाय है जिससे कि संसाररूपी कीचड़ (पापरूप, शोक-मोहरूप पंक) का अनेक बार शरीर से सम्पर्क होने पर भी मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता' ।। १३ ।।

तत्त्वं कथय मे किंचिद्येनाऽस्य जगतः प्रभो !
वेद्मि पूर्वापरं धातुश्चेष्टितस्याऽनवस्थितेः ॥ २१ ॥

'मुझे उस तत्त्व का उपदेश दीजिये जिससे मैं अव्यवस्थित ब्रह्मा की कृति जगत् की पूर्वापर वस्तु जानूँ। आदि और अन्त में अवशिष्ट रहनेवाले पारमार्थिक तत्त्व को जानूँ ॥ २१ ॥

अयं दग्धसंसारो नीरन्ध्रकलनाकुलः।
कथं सुस्वादुतामेति नीरसो मूढतां विना ॥ ८ ॥ सर्ग ३१॥

'यह निन्द्य संसार निरन्तर दुःख-प्राप्ति से परिपूर्ण है, अतएव इसमें कुछ भी रस (स्वाद) नहीं है। कृपया बतलाइये कि यह किस उपाय से अज्ञान-निवृत्ति द्वारा सुस्वादु (सरस) बनता है' ॥ ८ ॥

संसार तथा संसारी वस्तुओं का ऐसा वर्णन सुनकर यह शंका हो सकती है कि जब संसारी व्यवहारों से दुःख होता है तो फिर इन्हें त्याग क्यों नहीं देते ? ऐसी शंका को दूर करने के लिए राम जी कहते हैं :

यस्मात्किल जगत्यस्मिन् व्यवहारक्रियां विना।
न स्थितिः सम्भवत्यब्धौ पतितस्याऽचला यथा ॥१४॥

'जैसे सागर में उत्पन्न हुई मछली आदि जल-जन्तुओं के प्राण जल के बिना नहीं रह सकते, वैसे ही व्यवहारों के सम्पादन के बिना इस संसार में स्थिति नहीं हो सकती' ॥ १४ ॥

मनो मननशालिन्याः सत्ताया भुवनत्रये।
क्षयो युक्ति विना नाऽस्ति ब्रूते तामलमुत्तमाम् ॥१६॥

'मुनिश्रेष्ठ ! तीनों भुवनों में मन का विषयों से संसर्ग होना ही मन की सत्ता (अस्तित्व) है। उसका विषयों से सम्पर्क न होना ही उसकी सत्ता का विनाश है, यथा मन की सत्ता का विनाश तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करनेवाली युक्ति के उपदेश के बिना नहीं हो सकता। इसलिए मुझे बार-बार उस युक्ति का उपदेश कीजिये' ॥ १६ ॥

श्री राम जी ने इसके पश्चात् गुरु वसिष्ठ जी से यह कह दिया कि यदि तत्त्वज्ञान तक पहुँचनेवाली उक्त युक्ति मुझे प्राप्त नहीं होती तो—

न किंचिदपि वाञ्छामि देहत्यागादृते मुने !

'हे मुनिवर ! देहत्याग को छोड़कर और कुछ भी मुझे वाञ्छित नहीं ।'

श्री राम के हृदय की व्यथा की यह गाथा भगवान् राम की वाणी से कहलवाई गई है । ऐसी घटना घटी या नहीं घटी, यह भगवान् राम ही जानते हैं, परन्तु यह सत्य है कि इस समय दुनिया के लगभग सारे देशों और प्रायः सभी मनुष्यों की अवस्था ऐसी ही है । इसीलिए यह लम्बा प्रसंग यहाँ देने की मैंने आवश्यकता समझी, क्योंकि संसार के दृश्य का इससे अधिक उपयुक्त शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता था । सर्ग २६ के १० से लेकर १९ श्लोक तक कहे श्री राम के मार्मिक शब्दों को एक बार फिर पढ़ जाइये । ऐसा प्रतीत होता है कि यह दयनीय अवस्था आजकल के संसारी मनुष्य ही की आवश्यकता नहीं रहने दी कि गुरु वसिष्ठ उन्हें कोई उत्तर दें (यद्यपि गुरु जी ने बड़े विस्तार से उत्तर दिया) क्योंकि इसी कथन में उन्होंने स्पष्ट बतला दिया कि तत्त्वज्ञान प्राप्त किये बिना यह दयनीय अवस्था दूर नहीं हो सकती । वह तत्त्वज्ञान कौन लोग प्राप्त कर सकते हैं और वह तत्त्व-ज्ञान क्या है, इसका वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है । आगामी पृष्ठों में यह वर्णन पढ़िये :

मनुष्य तत्त्वज्ञान का अधिकारी कैसे बन सकता है ?

: ८ :

तत्त्वज्ञान का अधिकारी कौन?

तत्त्वज्ञान प्राप्त किये बिना न तो सांसारिक दुःखों से छुटकारा हो सकता है, और न ही शान्ति प्राप्त हो सकती है। तत्त्वज्ञान की ऊँची मंजिल तक पहुँचने से पूर्व यह आवश्यक है कि पहले वहाँ तक पहुँचने का अपने-आपको अधिकारी बनाया जाय। वास्तविक तत्त्व क्या है? यह तो तत्काल वर्णन हो सकता है, परन्तु जब तक बुद्धि उसे ग्रहण करने योग्य न बने तब तक उसके वर्णन का कोई लाभ न होगा। पीछे जितने अध्याय लिखे गये हैं, उनका प्रयोजन यही है कि किसी प्रकार से हम उस अवस्था में पहुँच जायँ जहाँ पहुँचकर तत्त्व के वास्तविक रूप को भली-भाँति समझ सकें।

प्रारम्भ में यदि वासना-क्षय तथा मन के लय का वर्णन हुआ तो इसीलिए, क्योंकि मन की एकाग्रता के बिना इस तत्त्व की समझ आ ही नहीं सकती; फिर शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य की बात छेड़ी तो इसी उद्देश्य के लिए। प्राणायाम तथा ध्यान का प्रसंग छिड़ा तो इसी कारण से। श्रेय तथा प्रेय दो मार्गों की कथा आई तो इसी प्रयोजन से। शरीर और लोक के तत्त्वों की समानता का वर्णन भी इसीलिए हुआ। सृष्टि-तत्त्व और सृष्टि-विज्ञान को बीच में लाना भी इसीलिए आवश्यक समझा गया तथा भगवान् राम के हृदय की व्यथा की गाथा भी इसीलिये सुनाई गई ताकि ज्ञान, अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा धीरे-धीरे मनुष्य तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी बने और इस अध्याय में कुछ और मर्म की बातें इसीलिये लिखी जा रही हैं ताकि हम पूर्णरूपेण अधिकारी बन सकें।

तत्त्वज्ञान का मनुष्यमात्र को अधिकार

वैसे तत्त्वज्ञान का अधिकार मनुष्यमात्र को है, इसमें किसी के लिए

कोई रुकावट नहीं। गंगातट पर आज कितना शीतल, सुन्दर पवन चल रहा है! इस पवन का सेवन करने के सभी अधिकारी हैं। परन्तु जिनके शरीर दुर्बल हैं, शीत को सहन करने की शक्ति नहीं रखते, ज्वरग्रस्त हैं, पहले ही जिन्हें निमोनिया हो रहा है, कासक्षय के जो रोगी हैं, वे तो इस सुन्दर शीतल पवन के सेवन का अधिकार नहीं रखते। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान का अधिकार तो सबको है, परन्तु इसको प्राप्त करने के पात्र वे होंगे जो सर्वथा स्वस्थ हैं, मन तथा आत्मा जिनका तत्त्वज्ञान की शीतलता को सहन करने के योग्य बन चुका है क्योंकि यह तत्त्वज्ञान तो फिर मनुष्य को परमानन्द तक पहुँचा देता है।

तत्त्वज्ञान के चार साधन

तत्त्वज्ञान विकृतिरूप प्रकृति से छुटकारा दिलाकर मोक्ष-पद प्राप्त करा सकता है। श्री शंकराचार्य से जब यह पूछा गया कि मोक्ष के साधन क्या हैं? तो इसके अर्थ यही थे कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के कौन-से साधन हैं? इसके उत्तर में श्री शंकराचार्य ने ये चार साधन बतलाये थे :

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेकः। (२) इहामुत्रार्थफलभोगविरागः। (३) शमदमादिषट्कसम्पत्तिः। (४) मुमुक्षुत्वं चेति।

१. नित्य और अनित्य पदार्थों का भिन्न-भिन्न ज्ञान अर्थात् आत्म और अनात्म वस्तुओं का विवेक।

२. इस लोक के और परलोक के और उनसे होनेवाले फलों में वैराग्य अर्थात् संसार-यात्रा श्रेय-मार्ग से करते हुए या निःस्वार्थ भाव से निष्काम होकर प्रेय-मार्ग पर चलते हुए सर्वथा वैराग्य-वृत्ति बना लेना।

३. शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान, इन छः साधनों का सम्पादन।

४. मोक्षपद की इच्छा अर्थात् 'मैं सांसारिक दुःखों से सर्वथा छुटकारा पाकर मुक्त हो जाऊँ', जब ऐसी तीव्र तथा उत्कट इच्छा हो जाती है तो उसे मुमुक्षु कहा जाता है।

(१) विवेक

सबसे पहला साधन है नित्यानित्यवस्तु-विवेक। नित्य वस्तु केवल तीन हैं—(१) ईश्वर, (२) जीव, (३) प्रकृति; शेष सब दृश्यमान संसार अनित्य है। श्री कृष्ण भगवान् ने भी गीता के अध्याय १३ में तीन ही तत्त्व नित्य कहे हैं। पहले श्लोक में परमात्मा और दूसरे में प्रकृति तथा जीवात्मा :

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९ ॥

'वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति एवं माया से अति परे कहा जाता है तथा वह परमात्मा बोधस्वरूप और जानने के योग्य है एवं तत्वज्ञान से प्राप्त होनेवाला और सबके हृदय में स्थित है ॥ १७ ॥

प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया और जीवात्मा—इन दोनों को तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकृति से ही उत्पन्न हुए जान' ॥ १९ ॥

इसके अतिरिक्त गीता के अध्याय १५ में फिर यह कहा है :

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

'उन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं 'अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा' ऐसा कहा गया है।'

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

'मैं नाशवान् जड़वर्ग क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और माया में स्थित अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिये लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।'

श्वेताश्वतरोपनिषद् के ऋषि ने तो बड़े सुन्दर ढंग से ईश्वर, जीव और प्रकृति के नित्य, अनादि होने का वर्णन किया है। पहले ही अध्याय के १०वें वाक्य में यह आदेश है :

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।१०।

'प्रकृति परिणामिणी (बदलती रहनेवाली) है। हर (पुरुष) अमृत है और अपरिणामी है। इन दोनों प्रकृति और पुरुष पर एक देव ईशन (शासन) करता है। उस एक के ध्यान से, उसमें जुड़ जाने से, तन्मय हो जाने से फिर अन्त में सारी माया हट जाती है (सब धोखे मिट जाते हैं)।'

फिर १२वें वाक्य में यह आदेश है :

एतज्ज्ञेयनित्यमेवात्मसंस्थं, नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।१२।

'इसको जानो जो सदा तुम्हारे आत्मा में वर्तमान है; इससे परे कुछ जानने योग्य नहीं है। भोक्ता (जीव), भोग्य (प्रकृति और उसके कार्य) और प्रेरक (ईश्वर) को समझकर सब साफ हो जाता है। यह त्रिक् ब्रह्म-सम्बन्धी है।' इन दोनों स्थलों पर श्वेताश्वतर ऋषि ने ईश्वर, जीव, प्रकृति, तीनों का वर्णन भोक्ता, भोग्य और प्रेरक शब्दों से स्पष्ट किया है।

अविद्या के चार रूप

अब जो लोग विवेक से काम नहीं लेते, वे अनित्य पदार्थों में नित्य और नित्य में अनित्य भावना करके भटकते हैं। विवेक के स्थान में वे अविद्या के जाल में फँस जाते हैं। अविद्या का लक्षण ही यह है :

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥
यो० द० साधनपाद ५ ॥

'अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में नित्य, पवित्र सुख और आत्मा की प्रतीति ही 'अविद्या' है।'

अनित्य=यह समझ लेना कि मेरा शरीर नित्य रहेगा, यह दृश्यमान सृष्टि सदा से है और सदा इसी प्रकार बनी रहेगी, मैंने अपना

जो वैभव बनाया है, अपनी पार्टी बनाकर जो राज्य स्थापित किया है, जो सम्बन्धी, मित्र और सहायक बनाये हैं, ये इसी प्रकार मेरे बने रहेंगे—ऐसा जो मिथ्या ज्ञान है, यह अविद्या ही है। यह अविद्या ही सारे कष्टों-क्लेशों की जननी है, जिसमें सबसे पहला भ्रान्त विचार यह है कि अनित्य को नित्य समझ लिया जाय।

अशुचि=अपवित्रता ही अशुचि है। अपवित्र वस्तुओं को पवित्र समझ बैठना और जो पवित्र हैं उनको अपवित्र, यह अविद्या का दूसरा रूप है। अब देखिये, यह मानव-शरीर मल-मूत्र ही का समुदाय तो है! परन्तु इसे पवित्र समझ लिया जाता है और इसकी पालना के लिए जीवों का वध करना पड़े तो इस वध को भी अच्छा समझा जाता है। असत्य-भाषण से यदि पालना होती हो तो झूठ बोलना आवश्यक समझ लिया जाता है। ऐसे ही सत्य विद्या, ब्रह्म-विद्या, सत्संग, प्रभु-भजन और परोपकार को ढोंग समझकर इन पवित्र वृत्तियों के विरुद्ध भी कथन किया जाता है। जितेन्द्रियता तो एक अत्यन्त पवित्र तप है। इसपर भी हास्य किया जाता है और जितेन्द्रियता को असम्भव तथा 'बर्थ कण्ट्रोल' जैसे गन्दे कार्य को अच्छा ही नहीं समझा जाता अपितु उसका प्रचार भी किया जाता है। चोरी, हिंसा, चोरबाज़ारी अथवा भ्रष्टाचार से कमाया धन अपवित्र है; परन्तु इन्हीं साधनों से कमाये धन को अच्छा समझना अन्याय, एक महापाप और निकृष्ट अपवित्र वृत्ति है क्योंकि अन्याय से अपना स्वार्थ सिद्ध करना, इसी को पवित्र जान लेना, किसी का भी अधिकार छीनना अपवित्र कार्य है। किसी देश या प्रदेश को राक्षसी शक्ति, बहुमत या धोखे से अपने अधिकार में ले आना, अपनी गुटबन्दी या पार्टी का बल बढ़ाने के लिए अत्याचार को कानून का रूप देकर मनुष्यों को कारागार में डाल देना अत्यन्त घृणित वृत्ति है। पर इसी वृत्ति को देश के लिए बहुत लाभदायक, आवश्यक और पवित्र समझना, इसी प्रकार के और कार्यों को पवित्र मानकर उन्हीं में प्रयत्नशील रहकर अपने-आपको कृतकृत्य समझना यह अविद्या का दूसरा रूप है।

अविद्या के इस रूप ने आज इतना भयंकर रूप धारण कर लिया

है कि हर बुरे व्यसन को अच्छा और अच्छे को बुरा समझा जाने लगा है। मद्यपान आज की समाज-सोसायटी में सभ्यता का चिह्न है। ताश खेलना, सिनेमा देखना, झूठ-मक्कारी से धन एकत्र करना बुद्धिमत्ता है। मद्यपान, मांसभक्षण, ताश, सिनेमा से जो दूर रहता है वह सोसायटी के अयोग्य और बुद्ध समझा जाने लगा है। यह अविद्या के रूप की पराकाष्ठा है।

अविद्या का तीसरा रूप दुःख को सुख और सुख को दुःख समझना है। जितने विषय हैं वे सब दुःख ही हैं, परन्तु विषयों की पूर्ति के लिए मानस इतना लिप्त हो जाता है कि उनसे निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। तृष्णा, काम, क्रोध, मोह, लोभ, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि ऐसे विषय हैं जिनमें पड़कर मानव गीली लकड़ी की तरह सदा जलता ही रहता है, फिर भी वह इन्हीं के पीछे पड़ा रहता है कि अब सुख मिल जायेगा, परन्तु सुख के स्थान पर दुःख ही पल्ले पड़ता है।

राजनीति के क्षेत्र में अविद्या

राजनीति के क्षेत्र में अविद्या के इस रूप को देखिये तो स्पष्ट हो जायेगा। इस भ्रम ने कि देश-विभाजन से सुख हो जायेगा और हिन्दू-मुस्लिम समस्या ठीक हो जायेगी, कितना बड़ा भारी दुःख उत्पन्न कर दिया! ऐसे ही यह भ्रम कि कश्मीर का प्रश्न सुरक्षा कौंसिल में ले-जाने से भारत का यह दुःख शीघ्र मिट जायेगा, कितना भयंकर सिद्ध हो रहा है! ऐसे ही राजनीति के क्षेत्र में और कितने ही भ्रम हैं जिन्हें सुख समझा गया, परन्तु वे दुःख ही सिद्ध हुए। थोड़ा दृष्टि को और विशाल कीजिये तो प्रकट हो जायेगा कि दुनिया के देशों में आज जो अशान्ति, वैमनस्य तथा युद्ध की अग्नि चमक रही है, इसका मूल कारण यही है कि दुनिया अविद्या के इस तीसरे रूप के जाल में फँस चुकी है। दुःख को सुख और सुख को दुःख समझा जाने लगा है। माया, धन, रोटी, ऐटम बम, युद्ध-सामग्री, शारीरिक लाभ, इन्हीं को सुख समझा जा रहा है। प्रभु-भक्ति, दया, दान, परोपकार, शान्ति, अहिंसा तथा तप आदि को जंगली लोगों की कथाएँ मानकर इन्हें दुःख समझा जाने लगा है।

आत्म और अनात्म

चौथा रूप अविद्या का यह है कि अनात्म में आत्म-बुद्धि कर लेना; है तो जड़, परन्तु उसे चेतन समझना और जहाँ आत्मा है उसे जड़ मान लेना। अविद्या के इस चौथे रूप ने भारतवासियों और अन्य देशवासियों को भी भारी भ्रम में डाल दिया है। अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझकर उनके लिए क्या-कुछ न कर डाला! यहाँ तक कि दुनिया ने आत्मा को सर्वथा विस्मृत कर दिया और अनात्म वस्तुओं की मान-पूजा इत्यादि होने लगी।

जब तक साधक में विवेक-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती और वह यह निश्चय नहीं कर लेता कि ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों अनादि हैं, तब तक वह इस मार्ग पर आगे बढ़ नहीं सकता। इन तीनों में अन्तर इतना ही है कि प्रकृति तो केवल सत्य है, जीवात्मा सत्य भी है और साथ ही चित्त् भी है, और परमात्मा जहाँ सत्य भी है, चित् भी है, वहाँ आनन्द भी है। इन तीनों का विवेक पहली मंजिल है।

महर्षि दयानन्द की व्याख्या

नित्यानित्य-विवेक के सम्बन्ध में महर्षि स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' के नवम समुल्लास में यह व्याख्या की है :

"सत्पुरुषों के संग से 'विवेक' अर्थात् सत्याऽसत्य, धर्माऽधर्म, कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य कर, पृथक्-पृथक् जानें और शरीर अर्थात् जीव पञ्च कोषों का विवेचन करें। एक—'अन्नमय' जो त्वचा से लेकर अस्थि-पर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। दूसरा—'प्राणमय' जिसमें 'प्राण' अर्थात् जो भीतर से बाहर आता, 'अपान' जो बाहर से भीतर जाता, 'समान' जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता, 'उदान' जिससे कण्ठस्थ अन्नपान खींचा जाता और बल-पराक्रम होता है, 'व्यान' जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है। तीसरा—'मनोमय' जिसमें मन के साथ अहंकार, वाक्, पाद, पाणि, पायु, उपस्थ, ये पाँच कर्म-इन्द्रियाँ हैं। चौथा—'विज्ञानमय' जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका, ये पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं, जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है। पाँचवाँ—'आनन्द-

मयकोष' जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून-आनन्द, अधिकानन्द और आधार कारणरूप प्रकृति है—ये पाँच कोष कहलाते हैं। इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।"

इसी विवेक की व्याख्या में महर्षि दयानन्द जी ने तीन प्रकार के शरीरों का वर्णन किया है अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर, तथा अन्त में लिखा है :

"इन सब कोष-अवस्थाओं से जीव पृथक् है।...यही जीव सबका प्रेरक, सबका धर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता और भोक्ता कहाता है।...विना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दुःख का भोग वा पाप-पुण्य कर्त्तृत्व कभी नहीं हो सकता। हाँ, इनके सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुख-दुःखों का भोक्ता है। जब इन्द्रियाँ अर्थों में, मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है तभी बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बुरे कर्मों में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है, वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है। जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता हैं वही मुक्ति-जन्य सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्त्तता है, वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।"

विवेक की इस सुन्दर व्याख्या में महर्षि ने तीन रहस्य खोले हैं : (१) तीन प्रकार के जो शरीर हैं, जीवात्मा इनसे पृथक् है। विवेक-हीन लोग पहले तो स्थूल शरीर ही को आत्मा समझ लेते हैं; जो स्थूल आत्मा को नहीं समझते, वे फिर सूक्ष्म ही को आत्मा समझने लगते हैं। इस प्रकार के लोगों को विरोचन-बुद्धि कहा जाता है जो शरीर ही की पूजा में लगे रहते हैं। विवेकी आत्मा को इनसे पृथक् निरखता है और शरीर घटने, या बढ़ने, या नष्ट होने से दुःखी नहीं होता। (२) दूसरा रहस्य यह प्रकट किया हैं कि मानव बुरे या अच्छे कर्म में कैसे प्रवृत्त होता है। उसका क्रम यह है—आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करता है, उधर इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर झुकती हैं। मन ने जब इनका साथ दिया तो अच्छे या बुरे कर्म इन्द्रियों द्वारा होने लगते हैं। (३) जब ऐसी अवस्था आती है तो

हृदयाकाश में विराजमान परमात्म-शक्ति की ओर से कर्म करनेवाले को एक प्रकार की आकाशवाणी होती है। यदि प्रवृत्ति अच्छे कर्मों की ओर है तो हृदयाकाश से उसे आनन्द, उत्साह तथा निर्भयता की अनुभूति होती है; और यदि बुरा, निन्दित, अपवित्र कार्य होने लगा है तब भय, लज्जा, शंका उत्पन्न होते हैं। ये दोनों प्रकार की आकाश-वाणियाँ विवेकी ही सुनता है। इसी को 'ज़मीर की आवाज़' या आत्मा (Conscience) की ध्वनि कहते हैं। प्रभु के इस आदेश को जो सुनते हैं वे सर्वदा बुरे कर्मों से बचे रहते हैं। ये तीन रहस्य महर्षि ने ऐसे खोले हैं जिनसे पूरा लाभ उठाकर जीवन को विवेकी बनाया जा सकता हैं।

(२) वैराग्य

तत्त्वज्ञान या मोक्ष का अधिकारी बनने का दूसरा साधन 'वैराग्य' है। श्री शंकराचार्य जी ने वैराग्य का अर्थ यह किया है—"इह स्वर्गभोगेषु इच्छाराहित्यम्।" अर्थात् "इस लोक के और स्वर्ग आदि परलोक के सुख आदि भोग की इच्छा का त्याग करना वैराग्य है।"

"योग-दर्शन' तथा गीता में मन और चित्त की वृत्तियों के निरोध के दो विशेष साधन बतलाये हैं—वैराग्य और अभ्यास। वैराग्य के बिना वृत्तियों का प्रभाव रोकना कठिन है। वर्षाऋतु में भयंकर रूप से बहती हुई पहाड़ी नदी के प्रबल प्रवाह को रोकना अत्यन्त कठिन है। परन्तु बुद्धिमान् इंजीनियर बन्ध बाँधकर उसकी धारा का मुख दूसरी ओर कर सकता है। इसी प्रकार चित्त की वृत्तियों को, जो विषयों की ओर बहती चली जा रही हैं, वैराग्य के बन्ध से बदला जा सकता है।

वैराग्य के अर्थ केवल यही नहीं कि संसारी वस्तुओं का त्याग कर दिया जाय, अपितु प्रयोजन यह है कि मन से लोक-परलोक के हर प्रकार के फल की तृष्णा को निकाल दिया जाय। ऋषिकेश में सीमा-प्रान्त के एक 'विरक्त साधु' मिले; वे रो रहे थे। मैंने पूछा—'क्या कारण है रोने का?' कहने लगे कि 'पत्नी याद आ रही है।' मैंने पूछा—'तब संन्यास क्यों लिया था?' उत्तर मिला, 'एक दिन देवी से

लड़ाई हो पड़ी तो मैं साधु बन गया।' यह तो वैराग्य या त्याग नहीं है।

मन वैरागी हो

बाहर का त्याग वैराग्य नहीं। मन में कोई राग न रहे, तभी वैराग्य होता है—साधक जब सर्वथा तृष्णारहित हो जाता है। केवल जंगल में जा बैठे, शहर-बस्ती छोड़ दी, खाना-पीना भी निर्वाह-मात्र रख लिया, वस्त्र भी त्याग दिये, परन्तु मन में तो सिनेमा दौड़ रहा है, शहरों की हा-हू ने मन में शोर मचा रखा है, स्वादु पदार्थों के स्वप्न आते रहते हैं; चलो इस लोक की न सही, स्वर्ग ही की सही, याद तंग करती रहती है तो वह वैराग्य नहीं है।

वैराग्य यह भी नहीं कि सब-कुछ छोड़-छाड़ और त्यागकर राख को वस्त्र बनाकर वन के वृक्ष के मूल में डेरा लगा लिया जाय। हाँ, यह एक प्रकार का वैराग्य अवश्य है, परन्तु दुनिया के सारे मनुष्य तो ऐसा नहीं कर सकते। सारे ही भिक्षु या संन्यासी तो बनने से रहे। न ही सबको संन्यासी बनने का अधिकार दिया गया है। संन्यासी तो केवल वह बन सकता है जिसने हृदय से स्वार्थ-त्याग किया हो। अपनत्व रहे ही न, न किसी से राग, न द्वेष, सर्वथा वैरागी, विरक्त, त्यागी स्वभाव जिसका बन गया हो वही संन्यासी बन सकता है। हर किसी का ऐसा बनना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए सनातन वैदिक संस्कृति में ऐसे वैराग्य का विधान है जो क्रिया में आ सके और ऐसे वैराग्य का सुन्दर स्वरूप 'यजुर्वेद' अध्याय चालीस के पहले ही मन्त्र में दिखलाया गया है जहाँ यह आदेश है :

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।"

'इस जगत् के पदार्थों का भोग त्यागभाव ही से करो—लोभ न करो, यह धन किसी का नहीं बनता।'

भगवान् ने अपने सामर्थ्य से जो जगत् रचा है, यह जीव के भोग तथा अपवर्ग ही के लिए है। भोग तो भोगने ही होंगे, इन्हें प्रसन्नता से भोगो, परन्तु त्यागभाव से भोगो। इसमें फँस न जाओ। यह नदी

तैरकर पार हो जाने के लिए है, डूब मरने के लिए नहीं। यह शरीर एक नैया है, इसपर बैठकर संसार-सागर से पार तभी जा सकेंगे जब भोगों का जल नाव में भरने न पाय। यदि भोगों का जल भर गया तो नैया डूब जायेगी। डूब मरने से बचने का एक ही उपाय है कि संसार के सारे कार्य करते हुए वेदाज्ञा के अनुसार हम वैराग्य-वृत्ति बनाये रखें। श्री कृष्ण भगवान् ने जहाँ संन्यास और निष्काम कर्मयोग का वर्णन किया है, वहाँ स्पष्ट कह दिया है कि कर्मों का सर्वथा त्याग तो हो नहीं सकता, इसलिए कर्म तो करने ही पड़ेंगे, परन्तु निष्काम होकर कर्म करने से ये कर्म उसको बाँधेंगे नहीं :

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाऽधिगच्छति॥

गीता० ५। ६॥

'निष्काम कर्मयोग के बिना संन्यास प्राप्त होना कठिन है। भगवान् का मनन करनेवाला निष्काम कर्मयोगी भक्त परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।' इससे अगले श्लोक में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं— "जितेन्द्रिय तथा पवित्र अन्तःकरणवाला निष्काम-कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्मों में लिप्त नहीं होता।"

त्याग और तप आधार-शिला है

सनातन वैदिक संस्कृति की आधार-शिला त्याग और तप की चट्टान पर ही रखी गई थी। मानव-जीवन को जिन चार आश्रमों में बाँटा गया उनका आधार है ही तप और त्याग। 'ब्रह्मचर्य' तो तप-ही-तप है। गृहस्थ-आश्रम त्याग और तप का आश्रम है। पति पत्नी के लिए और पत्नी पति के लिए त्याग-तप करते हैं। सन्तान होने पर फिर माता-पिता मिलकर सन्तान के लिए त्याग और तप करते हैं। वानप्रस्थ-आश्रम फिर तप का आश्रम है। गृहस्थ में रहते हुए शरीर तथा मन में जो त्रुटियाँ आ गई हों, उनको दूर करने के लिए फिर तप तपना होता है। अब चौथा आश्रम संन्यास आता है—यह भी तप और त्याग का आश्रम है। गृहस्थ भी त्याग-तप का और संन्यास भी त्याग-तप का आश्रम बतलाया गया है। दोनों में तब भेद क्या हुआ? भेद

यह है कि गृहस्थ में तो परिवार, सम्बन्धियों, मित्रों या समाज और देश के लिए तप-त्याग किया जाता है और संन्यास में सारे संसार के कल्याण तथा मोक्ष के लिए त्याग और तप किया जाता है।

इसी प्रकार वैदिक संस्कृति में जो यज्ञों का विधान है, उसका प्रयोजन भी त्याग और वैराग्य ही है।

हमारी संस्कृति कोरे उपदेश नहीं देती, अपितु उन उपदेशों को जीवन में घटाकर दिखला देती है। हमारे ऋषियों ने कर्मों तथा भोगों से पृथक् रहने को असम्भव समझकर भोग और त्याग का ऐसा सुन्दर समन्वय किया कि कर्म करते हुए भी अलिप्त रहने का रहस्य खोज निकाला और वह रहस्य यह है कि—हरएक वर्ण तथा आश्रमवाला अपना कर्त्तव्य समझकर कर्म करे, फल की इच्छा त्याग दे। प्रतिदिन हवन-यज्ञ करने का विधान करते हुए ऋषियों ने इस पवित्र कर्म तथा कर्म-फल से अलिप्त रहने के लिए यह मर्यादा रखी कि प्रत्येक आहुति के पश्चात् जो बड़े प्रेम, श्रद्धा और भक्ति से अग्नि को परमात्मा और सब देवताओं का मुख समझकर भेंट की जा रही है, उसके अन्त में ये शब्द कहे जाते हैं—"इदमग्नये इदं न मम"—'यह तो मेरी नहीं है, भगवन्, तेरी ही है' और ऐसा बार-बार दुहराया जाता है ताकि वैराग्य और त्याग की भावना दृढ़ होती चली जाय।

प्राण भी प्रभु के अर्पण

यज्ञ का अर्थ ही त्याग है। इस त्याग और वैराग्य को वेद भगवान् ने इतनी पराकाष्ठा तक पहुँचाया कि यह आदेश दे दिया :

यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।

'सारे यज्ञ भी प्रभु प्यारे की प्रसन्नता में समर्पण हैं।'

'यजुर्वेद' अध्याय १८ के मन्त्र २९ की व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द के ये शब्द कितने मार्मिक हैं :

"यज्ञ नाम विष्णु का है। जो सब जगत् में व्यापक हो रहा है उसी परमेश्वर के अर्थ सब वस्तु समर्पण कर देनी चाहियें। इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञा-पालन में समर्पित करें और अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ

सर्मपित कर देवें।

जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आँख, जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि, वाणी, मन और विज्ञान, जीव तथा चारों वेदों को पढ़ के जो पुरुषार्थ किया है; जो प्रकाश, सब सुख, उत्तम कर्मों का फल और स्थान, तीन प्रकार का जो यज्ञ किया जाता है—ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ सर्मपित कर देना अवश्य हैं। स्तुति का समूह, सब क्रियाओं की विद्या ऋग्वेद अर्थात् स्तुति-स्तोत्र, सब गान करने की विद्या, अथर्ववेद की विद्या, बड़े-बड़े सब पदार्थ और शिल्प विद्या आदि के फलों में से जो फल अपने अधीन हों, वे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवे कि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई है।" (ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका)

भगवन्! सब-कुछ तेरा है, मेरा क्या है?

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सब तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥

योगी और अयोगी में भेद

यही सच्चा वैराग्य और त्याग है। ऐसी वैराग्य-वृत्ति बनाकर जब सारे सांसारिक व्यवहार किये जायँ तो फिर किसी रूप में भी कष्ट नहीं होता। हम अपनी सामर्थ्य और बुद्धि के अनुसार जीवन को यज्ञरूप बनाकर अपना कर्त्तव्य पूर्ण करते चले जायँ और फल प्रभु पर छोड़ दें तो इसका परिणाम बहुत मीठा होता है। महर्षि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' के उपासना-विषय में योगी और अयोगी या वैरागी और रागी का दृश्य सुन्दर शब्दों में खींचा है। महाराज वेद-मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं:

"उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्ष-शोकरहित, और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष-शोकरूप दुःख-सागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की तो वृत्ति ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति अन्धकार में फँसती जाती है।"

उपासक या योगी और संसारी बाहर के चिह्नों से नहीं बनता अपितु हृदय की वृत्ति या भावना से बनता है। वस्त्र त्याग देने से, वस्त्र

रंग लेने से तो आश्रम-मर्यादा केवल बाह्य रूप से पूरी हो जाय तो हो जाय, मन रंगे बिना वास्तविक रूप से पूरी नहीं होती। ये पंक्तियाँ लिखते हुए एक घटना मुझे याद आ रही है :

स्वामी सर्वदानन्द और महात्मा हंसराज

अजमेर नगरी से बाहर एक विशाल मैदान में 'ऋषिनिर्वाणवाटिका' के निकट ही महर्षि स्वामी दयानन्द की निर्वाण-अर्धशताब्दी मनाई जा रही थी। त्याग और तप की मूर्ति महात्मा हंसराज भी एक कैम्प में विराजमान थे। वीतराग सच्चे संन्यासी स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज ने साधु-सन्तों के लिए एक पृथक् लंगर जारी किया हुआ था। एक दिन उसी लंगर में मैं श्री स्वामी सर्वदानन्द जी की सेवा में बैठा था कि इतने में तीन-चार आर्य संन्यासी श्री स्वामी जी के पास पहुँचे और कहने लगे कि—"हम आपकी सेवा में एक निवेदन लेकर आये हैं।" श्री स्वामी जी ने पूछा—"क्या बात है ?" संन्यासी कहने लगे—"हमारी इच्छा यह है कि महात्मा हंसराज जी के पास जाकर साधु-मण्डली की ओर से यह प्रार्थना की जाय कि वे संन्यास धारण कर लें और इस कार्य के लिए आप भी हमारे साथ चलें।" श्री स्वामी सर्वदानन्द जी मुस्कराये और कहने लगे—"क्या महात्मा हंसराज जी ने संन्यास नहीं किया हुआ ? सुनो ! हममें से कितने ही संन्यासियों से हंसराज जी बहुत अधिक संन्यासी हैं। उन्होंने केवल वस्त्र नहीं रंगे, अन्यथा उनका सारा जीवन ही संन्यास, त्याग और तप का जीवन रहा है। बाहर का चिह्न न हुआ तो क्या ? उनके पास इस बात के लिए जाने का विचार छोड़ दो। मैं तो उनको अपने से अधिक संन्यासी समझता हूँ। मैं किस मुँह से उनके सामने संन्यास का प्रस्ताव रखूँ ?"

यह सुनकर वे महानुभाव चले गये। निस्सन्देह वैराग्य, त्याग, संन्यास हृदय की वस्तु है और महात्मा हंसराज जी का तो सारा जीवन, बाल्य-काल से लेकर मृत्यु-पर्यन्त, सच्चे त्यागियों-वैरागियों ही का जीवन था। अन्य जो भी महात्मा ऐसा जीवन व्यतीत करते हैं उनको तो संन्यास लेने की विशेष आवश्यकता नहीं, परन्तु जो लोग

सारी श्रायु धन कमाने, स्वार्थ पूरा करने और विरोचन-बुद्धि बनकर युवा-अवस्था से वृद्ध-अवस्था तक पहुँचकर भी उन्हीं धन्धों में पड़े रहते हैं, उनको जीवन के अन्तिम दिनों में तो सब झगड़े छोड़कर वैराग्य की ओर झुकना चाहिये। कपड़े रंगे या न रंगे, परन्तु मन को रंगने के लिए तो रंगरेज़ के कारखाने में पहुँचायें। महर्षि दयानन्द नें तो 'सत्यार्थप्रकाश' के पञ्चम समुल्लास में स्पष्ट लिखा है :

"जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है क्योंकि इसके विना विद्या-धर्म कभी नहीं बढ़ सकते।"

संन्यास के अर्थ सर्व-त्याग

'हठयोग-प्रदीपिका' में यथार्थ कहा है कि :

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः॥

'गेरू-रंगे वस्त्र आदि का धारण सिद्धि का कारण नहीं और योग-शास्त्र की कथा भी सिद्धि का कारण नहीं; सिद्धि का कारण तो क्रिया ही है। यह सत्य है, इसमें संशय नहीं।'

इस क्रिया ही में प्रवृत्त होने का प्रयत्न करो। आज जो सच्चे संन्यासियों की ओर से भी जनता उपराम होती चली जा रही है, इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि गेरुए वस्त्रों में बहुधा अब वह वैराग्य, तप दिखलाई नहीं देता जो पूर्वकाल में था। संन्यास का अर्थ है सर्वत्याग और सर्वत्याग या पूर्ण वैराग्य के बिना मुक्ति का अधिकारी कोई नहीं बन सकता। इसीलिए कितनी ही स्मृतियों में संन्यास-ग्रहण आवश्यक बतलाया है तथा 'अङ्गिरःस्मृति' में तो यहाँ तक लिख दिया है कि :

संन्यसेद् ब्रह्मचर्येण संन्यसेद्वा गृहादपि।
वनाद्वा संन्यसेद्विद्वानातुरो वाथ दुखितः॥

'ब्रह्मचर्य से ही संन्यास धारण करे वा गृहस्थाश्रम से करे अथवा वानप्रस्थाश्रम से करे। मरण के समय, क्लेश करके आतुर हुआ वा ज्वरादि से दुःखी हुआ भी संन्यास धारण करे ; अर्थात् संन्यास करके

मरने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है ।'

संन्यास या त्याग को इतना आवश्यक समझा गया है कि 'विवेक-चूड़ामणि' में वैराग्य ही से समाधि-अवस्था में पहुँचने का विधान है। लिखा है :

"अत्यन्त वैराग्यवान् को ही समाधि-लाभ होता है। समाधिस्थ पुरुष को ही दृढ़ बोध होता है। सुदृढ़ बोधवान् का ही संसार-बन्धन छूटता है। संसार-बन्धन से छूटनेवाला नित्यानन्द का अनुभव करता है।"

वैराग्य क्या है ?

यह कैसे समझा जाय कि वैराग्य हो गया है? इसकी कसौटी 'विवेक चूड़ामणि' में यह बतलाई है :

'भोग्य वस्तुओं में वासना का उदय न होना, वैराग्य की चरम अवधि है।'

महर्षि स्वामी दयानन्द जी महाराज ने 'सत्यार्थप्रकाश' और 'संस्कारविधि' दोनों में संन्यास-आश्रम में प्रवेश करने का आदेश दिया है। परन्तु साथ ही 'कठोपनिषद्' का एक वाक्य देकर दुराचारियों को संन्यास से दूर रहने ही के लिए आज्ञा दी है। 'सत्यार्थप्रकाश' के पञ्चम समुल्लास में यह वाक्य है :

"जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं है, जिसका आत्मा योगी नहीं, और जिसका मन शान्त नहीं, वह संन्यास लेके भी अज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।"

(कठोपनिषद् वल्ली २, मं० २३)

संन्यास लेने का विधान करते हुए 'यजुर्वेद ब्राह्मण' का मन्त्र तथा 'मनुस्मृति' के दो श्लोक देकर महर्षि ने लिखा है :

"प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत-शिखादि चिह्नों को छोड़. आहवनीयादि पाँच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँच प्राणों में आरोप करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकलकर संन्यासी हो जाय। सब भूत प्राणिमात्र को जो अभयदान देकर घर से निकल के संन्यासी

होता है, उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वर-प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करनेवाले संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्द-स्वरूप लोक प्राप्त होता है।"

अनुभव की बात

यह अटल सत्य है जो ऋषि द्वारा प्रकट किया गया है। संसार के सारे सम्बन्ध, सारे बन्धन तोड़कर एकतत्त्व ब्रह्म की तलाश में जब तक साधक नहीं निकलता, तब तक उसका राग कहीं-न-कहीं बना ही रहता है और पूर्ण वैराग्य प्राप्त नहीं होता। अनुभव की बात यह है कि जब सारे ठिकाने, सारे आश्रय, सारी जंजीरें तोड़कर वैराग्यवान् साधक निर्जन वन में जा बैठता है तो उस समय उसके मन तथा चित्त की जो अवस्था होती है, उसे घर में बैठा हुआ तपस्वी अनुभव ही नहीं कर पाता। भगवान् के अतिरिक्त अब इस साधक को अपना कोई सहारा दृष्टिगोचर नहीं होता। उस समय संसारी पदार्थों की असारता को वह प्रत्यक्ष देखता है और तीव्र वैराग्य के सागर में तैरने लगता है। यह अवस्था संन्यासी वैरागी के भाग्य में होती है, अन्य किसी के भाग्य में नहीं।

आधुनिक काल में आश्रमों की सुन्दर प्रथा को जीवित रखने के लिए महात्मा मुन्शीराम जी ने श्री श्रद्धानन्द का और श्री नारायण-प्रसाद जी ने महात्मा नारायण स्वामी का रूप धारण करके जो पथ-प्रदर्शन किया वह अनुकरणीय है।

वैराग्य की भूमि दृढ़ ही तब होती है जब विषयों से साधक उपराम हो जाता है। भागवत स्कन्ध ११ में यह कहा है :

गुणेषु असङ्गो वैराग्यम् ॥ १९ । २७ ॥

'विषयों में अनासक्ति वैराग्य है।' इस अनासक्ति का प्रयोजन यही है कि—स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरों में विषयों की भावना का लेश किञ्चिन्मात्र भी न रहे। वैराग्य उत्पन्न करने का, मन को वास्तविक वैरागी बनाने का साधन क्या है ?

'पंचदशी' के चित्र-दीप प्रकरण में लिखा है :

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता ।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ।। २७८ ।।

'विषयों में दोषदृष्टि वैराग्य का मुख्य कारण होती है। विषयों को छोड़ने की अभिलाषा वैराग्य का स्वरूप कहलाता है। भोगों के प्रति दीनता न रहना वैराग्य का फल माना जाता है।'

मनु भगवान् ने भी 'यथा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः' अर्थात् विषय के दोषों के ज्ञान से सम्पूर्ण पदार्थों में 'निःस्पृह' हो जाना ही वैराग्य का मुक्त हेतु बतलाया है और ब्रह्म में स्थिति हो जाने का साधन यही बतलाया है :

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगान् शनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ।।

'इस प्रकार सम्पूर्ण ममता धीरे-धीरे छोड़कर सम्पूर्ण द्वन्द्वों से छूटा हुआ ब्रह्म में ही स्थित हो जाता है।' अनुभवी ऋषियों और शास्त्रकारों का यह कथन है भी यथार्थ। जीवन-नैया का लंगर जब विषयों के दृढ़ कीले के साथ बँधा है, आप तब लाख ज्ञानयोग के चप्पू लगाते रहें, सब व्यर्थ है। खूंटे से पृथक् कर लो, त्याग करो, वैराग्य लाओ, तब नैया चल सकेगी।

(३) षट् सम्पत्ति

तीसरा साधन तत्त्वज्ञानी बनने का जो बतलाया गया है वह 'शमदमादि षट् सम्पत्ति' है।

ये छः साधन इस प्रकार के हैं जिनका सम्पादन अनिवार्य है। प्रभु के दरबार में उपस्थित होने के लिए कुछ सम्पत्ति भी पल्ले चाहिये। कंगले, खाली हाथ, दरिद्रियों का वहाँ प्रवेश नहीं हो सकता। क्या भगवान् के दरबार में भी पूंजीपतियों ही को जाने का अधिकार है? हाँ, वहाँ बिना सम्पत्ति के जाना वर्जित है; परन्तु वह सम्पत्ति सोने-चाँदी की ठीकरियों की नहीं, दूसरी प्रकार की धन-दौलत, ज़मीन तथा राज्य-वैभव की भी नहीं, अपितु इनको तो वहाँ कोई पूछता ही नहीं, इनका तो वहाँ कौड़ी भी मूल्य नहीं। हाँ, एक सम्पत्ति वहाँ

अवश्य देखी जाती है और वह है—षट् सम्पत्ति—(१) शम, (२) दम, (३) उपरति, (४) तितिक्षा, (५) श्रद्धा और (६) समाधान का धनं।

शम क्या है ?

मन का निग्रह=अपने अन्तःकरण को पाप की ओर न जाने देना। जाने लगे तो तत्काल रोकना, हर समय सावधान रहकर मन को मन ही के द्वारा अधर्म से हटाकर धर्म में लगा देना। इस मनोनिग्रह के सम्बन्ध में पहले अध्यायों में लिखा जा चुका है, अतएव यहाँ विस्तार की आवश्यकता नहीं है; परन्तु यह कहना अनिवार्य है कि संसार का सारा खेल इसी मन से है। मन वश में हुआ तो सारा संसार वश में हुआ जानो। शंकर भगवान् का यह आदेश हृदय-पटल पर लिख रखो —"जितं जगत् केन ? मनो हि येन।"—'जगत् को किसने जीता ? जिसने मन को जीत लिया।' बस, शम यही है।

दम क्या है ?

हमारी जो पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, ये जब बाहर के विषयों की ओर जाती हैं तो पता नहीं क्या-क्या उपद्रव करने पर तैयार कर देती हैं। इन नेत्र, श्रोत्र, नासिका इत्यादि इन्द्रियों की प्रेरणा से मेरी जिह्वा, मेरे हाथ, मेरे पाँव इत्यादि जब बुरे कर्मों की ओर जाने लगें तो उन्हें तत्काल रोक देना दम कहलाता है। भगवान् ने ये हाथ शुभ कर्म के लिए दिये हैं। किसी दुखिया की सेवा, किसी गिरे हुए को उठाना, किसी को भोजन, किसी को जल, किसी को दान देना, किसी को सन्मार्ग दिखाना; इसी प्रकार पाँवों को कुसंगत, गन्दे तमाशों में, चोरी-डाका में जाने से रोककर सत्संग, सेवा, सहायता में ले जाना; मेरी आँख किसी की ओर कुदृष्टि से न देखे, मेरी जिह्वा कड़वा न बोले, असत्य न बोले, निन्दा की बात न करे, किसी बुरे व्यसन में मेरी कोई इन्द्रिय न फँसे।

इन्द्रियों का दमन करके जीवन को मधुमय बनाने के लिए अथर्ववेद की यह मीठी बात सुनो :

मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधु सदृशः॥ १। ३४। ३॥

'मेरा चाल-चलन मीठा हो, मेरा दूर होना मीठा हो, मैं वाणी से मीठा बोलूँ जिससे मैं मधुरता की मूर्ति बनूँ।' मेरी बाह्य तथा अन्दर की सारी इन्द्रियाँ मधुमय बन जायँ, तभी 'दम' का भाव पूर्ण हो पायेगा।

उपरति क्या है ?

श्री शंकराचार्य जी ने इसके सम्बन्ध में यह कहा है कि 'अपने कर्त्तव्य का पालन करना उपरति है।' स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है—'दुष्ट कर्म करनेवाले पुरुषों से सदा दूर रहना उपरति है। मुक्ति चाहनेवाला, अपने कर्त्तव्य आत्म-दर्शन का पालन तभी कर सकता है जब वह बुरे लोगों की संगति से दूर रहे।' अतः इन दोनों तत्त्वदर्शियों के कथन में कोई भेद नज़र नहीं आता। दुराचारियों, पाप कर्म करने-वालों से यदि बचा नहीं जायेगा तो आत्म-तत्त्व की ओर जाना कठिन हो जायेगा। ऐसी कुसंगति छोड़नी ही पड़ेगी। यही नहीं, अपितु इन्द्रियों द्वारा बाह्य विकारों को भी अपने अन्दर स्थान नहीं देना होगा। केवल स्थलरूप से ही नहीं, सूक्ष्मरूप से भी बाहर के विषयों से अपने-आपको सर्वथा पृथक् कर लेना होना। अंग्रेज़ी में इस अवस्था को Self-alienation कहते हैं।

तितिक्षा क्या है ?

द्वन्द्व सहन करना[1]; गर्मी, सर्दी, इन दोनों को सहन करना तो शरीर की तितिक्षा है और निन्दा, अपमानादि सहना मानसिक तितिक्षा है। कई बार ऐसा देखा गया है कि किसी व्यक्ति में सत्त्वगुण उभरा और उसने सब-कुछ त्यागकर आत्मदर्शन का मार्ग अपनाया तो कितने ही लोग यह कहते सुने गये—'पागल हो गया है यह !'

कोई कहने लगा—'कायर है, रणक्षेत्र से भाग गया है।' किसी ने यह आवाज़ कसी कि 'पार्टियाँ लेने, जुलूस निकलवाने और पूजा कर-वाने का शौक चढ़ा है !' जितने मुँह उतनी ही बातें सुनाई देने लगती हैं। परन्तु सच्चा साधक न निन्दा की, न स्तुति की, न मान-अपमान

१. Endurance=कठिनाइयों को सहन करना, आपत्तियों से घबरा न जाना, विघ्नों को परे हटाना।

की, न हानि-लाभ की, किसी की भी परवाह नहीं करता। यही नहीं, अपितु दोषारोपण करनेवालों के लिए वह मन से धन्यवाद देता है और उनका उपकार मानता है; और अपने अन्दर यदि कोई त्रुटि है तो उसे दूर करता है। त्रुटि नहीं और आरोप झूठा है तो उसे पूरी प्रसन्नता से सहन करता हुआ यही याचना करता है कि सबको सुबुद्धि प्राप्त हो। यह तितिक्षा एक ऐसा अनमोल गुण है कि कितने ही साधक केवल तितिक्षा ही के बल से भगवान् के आशीर्वाद के पात्र बन गये। हाँ, यह आवश्यक है कि साधक निन्दा से प्रसन्न-चित्त रहे और स्तुति से फूले नहीं, अपितु मन को मर्यादा में रखे और निन्दा करनेवालों या दोषारोपण करनेवालों के लिए यही कहे :

निन्दा हमरी जो करे, मित्र हमारा सोय।
साबुन लेवे गाँठ का, मैल हमारा धोय॥

अपने आत्म-दर्शन के मार्ग पर चलता जाय। स्वामी रामतीर्थ एम० ए० को संसार से उपराम हुआ देखकर किसी ने कह दिया 'पागल हो गया है।' राम कहने लगे :

इन्हीं बिगड़े दिमागों में भरे अमृत के लच्छे हैं।
हमें पागल ही रहने दो कि हम पागल ही अच्छे हैं॥

स्वामी दयानन्द जी ने तो मनुष्य ही उसे बतलाया है जो ऐसे द्वन्द्व सहन कर सके—"चाहे दारुण दुःख भी प्राप्त हो, चाहे प्राण भी चले जायँ, तो भी अपने मनुष्यपन-रूप धर्म से कभी पृथक् न हो। स्वामी जी ने श्री भर्तृहरि जी का यह श्लोक पढ़कर तितिक्षा धर्म की और भी पुष्टि कर दी है :

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

अर्थात् 'नीतिनिपुण पुरुष चाहे निन्दा करें या स्तुति करें, लक्ष्मी आये और चाहे भले ही चली जाय, आज ही मरना हो या युगान्तर में हो, पर धीर पुरुष न्याय के मार्ग से एक पद नहीं हिलते।'

जिसमें तितिक्षा नहीं, वह तो पग-पग पर ठोकर खा जायेगा। शरीर यदि कच्चा है; भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी सहन नहीं कर सकता, तो वह न चाहता हुआ भी ऐसे लोगों की दासता में फँसा रहेगा जो उसके शरीर के आराम के लिए हर प्रकार का प्रबन्ध कर सकें। पाप-पुण्य का भी वह ध्यान नहीं रख रकेगा और पतित हो जायेगा। इस मार्ग पर चलनेवाले के लिए तितिक्षु होना अत्यन्त आवश्यक है।

श्रद्धा क्या है ?

श्रद्धा कहते हैं उस अटल विश्वास को जो पूरे अनुसन्धान के पश्चात् किसी सत्य तत्त्व पर किया जाता है। ऋषि दयानन्द ने इसकी यह व्याख्या की है—"जो वेदादि सत्य-शास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान्, सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना है, वह श्रद्धा कहाती है।"

श्रद्धा की नैया बिना इस मार्ग की नदियाँ पार नहीं की जा सकतीं। वेद भगवान् तथा तदनुकूल सत्-शास्त्र और वेद के विद्वान् गुरुओं के वचनों पर पूरी श्रद्धा होना आवश्यक है। एक बार जब श्रद्धा करके चल पड़े तो फिर तर्क-वितर्क का कोई स्थान शेष नहीं रहता। श्रद्धा ही के बल पर फिर तो आगे बढ़ना होता है। श्रद्धा के नाम पर अनाचार भी बहुत हुए हैं। कहा यह जाने लगा कि "श्रद्धा और भावना से सब-कुछ प्राप्त हो जाता है।" इन शब्दों में तो निस्सन्देह कोई आपत्ति नहीं, परन्तु देखना यह चाहिये कि श्रद्धा और भावना कहाँ करनी है? श्रद्धा शब्द का तो भाव ही यह है—सत्य पर विश्वास। भावना का भाव यह है कि जिस वस्तु में जो गुण है, उसमें उसी गुण के अनुसार भावना करना। जड़ में यदि चेतन की भावना कर ली जायेगी तो वह जड़ प्रलय-काल तक भी चेतन न हो सकेगा। काग में हंस की भावना करके सामने दूध रख दिया जाय तो दूध में काग की चोंच पड़ने से दूध तथा जल पृथक्-पृथक् नहीं हो सकेगा। इस प्रकार असत्य पर सत्य का विश्वास कर लेने से श्रद्धा नहीं होगी। कोरा वितण्डावाद भी किसी को श्रद्धा का माधुर्य चखने नहीं देगा। श्रद्धा करने से पूर्व भली प्रकार जाँच कर लो कि किसपर क्यों श्रद्धा की जा

रही है ? तत्पश्चात् उस श्रद्धा से हृदय, मन और मस्तिष्क भरपूर कर लो। अब श्रद्धा ही से बेड़ा पार होगा। ऋग्वेद में तो एक सूक्त ही श्रद्धा की महिमा का है। उसका अन्तिम मन्त्र यह है :

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥१०।१५१।५॥

'हम प्रातःकाल श्रद्धा का आवाहन करते हैं। मध्यन्दिन और सूर्य के अस्त-समय में भी श्रद्धा का आवाहन करते हैं। हे श्रद्धे ! हम सबको श्रद्धा से युक्त करो।'

इस सूक्त के पहले दो मन्त्र ये हैं :

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥

'श्रद्धा से अग्नि प्रज्वलित की जाती है। श्रद्धा से (हवि) हवन किया जाता है। ऐश्वर्य के शिखर (ऐश्वर्य का कारण) पर श्रद्धा को प्रशंसा के साथ मानते हैं।'

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृषि ॥ २ ॥

'श्रद्धे ! दान देनेवाले का प्रिय कर। श्रद्धे ! देने की इच्छा करनेवालों का प्रिय कर। (श्रद्धा के साथ) भोग और यज्ञ (त्याग) करनेवाले का प्रिय कर। यह मेरा कार्य (उदित) कर, पूरा कर।'

वेद का आदेश यह है कि श्रद्धा से किया हुआ हर काम सफल होता हैं। इसी सूक्त का चौथा मन्त्र आत्म-दर्शन के मार्ग पर चलनेवालों के लिए विशेष ध्यान देने योग्य है :

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥

'दिव्य यजमान श्रद्धा को प्राप्त होते हैं। प्राणायाम करनेवाले (योगी) श्रद्धा से उपासना करते हैं। हृदय के उच्च भाव से श्रद्धा प्राप्त होती है। श्रद्धा से वसु (दिव्य धन) प्राप्त होता है।'

इतनी महिमा वेद ने श्रद्धा की गान की है।

समाधान क्या है ?

कोई भी शंका जब तक बनी है, जब तक सारे संशय निवृत्त नहीं हो जाते, चित्त तब तक चिन्तन में लगा रहता है और यह विचित्र चित्रकार अन्दर बैठा ही नाना चित्र खींच-खींचकर मन को उन्हीं चित्रों में लगाये रखता है। संशय जब मिट जाते हैं (छिद्यन्ते सर्व संशयाः) तथा कोई शंका शेष नहीं रहती, तब चित्त का समाधान हो जाता है; इसकी तड़प समाप्त हो जाती है। भगवान् शंकराचार्य जी ने भी और महर्षि दयानन्द ने भी समाधान का प्रयोजन यह बतलाया है—चित्तैकाग्रता (चित्त की एकाग्रता)। और यह चित्त तभी एकाग्र होगा जब सारी शंकाओं का समाधान हो जायेगा और हमारे सारे संशय निवृत्त हो जायेंगे। बार-बार संशय उठते रहना और शंकाओं ही के सागर में गोते खाते रहना, चित्त को एकाग्र नहीं होने देते। ये संशय तथा शंकाएं नाना प्रकार की कामनाओं ही से सामने आती हैं। इस प्रसंग में गीता के तीसरे अध्याय के अन्तिम आठ श्लोक बड़े तत्त्व के हैं। श्री कृष्ण भगवान् अपने प्रिय भक्त अर्जुन को बतला रहे थे कि कौन लोग इन्द्रियों के पीछे नहीं भागते और कर्मों में आसक्त नहीं होते। कर्मवीर अर्जुन ने तब प्रश्न किया :

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३-३६॥

'फिर यह पुरुष बलात्कार से लगाये हुए के सदृश, न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित हुआ पाप का आचरण करता है ?'

बड़े महत्त्व का यह प्रश्न है और आज भी प्रायः यह प्रश्न कितने साधकों के सामने आ जाता है। इसका जो उत्तर कृष्ण भगवान् ने दिया है, वह सारे संशय मिटाकर चित्त का समाधान करनेवाला है। सात श्लोकों में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि :

"हे अर्जुन ! रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यही महा-अशन अर्थात् अग्नि के सदृश, भोगों से न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है। इस विषय में इसको ही तू वैरी जान।

जैसे धुएँ से अग्नि और मल से दर्पण ढक जाता है तथा जैसे जेर

से गर्भ ढका हुआ है, वैसे ही इस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है।

इस अग्नि-सदृश, न पूर्ण होनेवाले कामरूप, ज्ञानियों के नित्य वैरी से ज्ञान ढका हुआ है।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके वास-स्थान कहे जाते हैं और यह काम इन्हीं द्वारा ज्ञान-हरण करके जीवात्मा को मोहित करता है।

इसलिए हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान के नाश करनेवाले इस काम पापी को निश्चयपूर्वक मार।

यदि तू समझे कि इन्द्रियों को रोककर कामरूप वैरी को मारने की मेरी शक्ति नहीं तो तेरी यह भूल है, क्योंकि 'इस शरीर से तो इन्द्रियों को परे (श्रेष्ठ, बलवान्, सूक्ष्म) कहते हैं और इन्द्रियों से परे मन है तथा मन से परे बुद्धि और जो बुद्धि से भी अत्यन्त परे है, वह आत्मा है।'

इस प्रकार बुद्धि से परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार से बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो! अपनी शक्ति को समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रु को मार।"

सारी प्रक्रिया 'शत्रु काम' को मारने की कृष्ण भगवान् ने इन सात श्लोकों में समझा दी है और साथ ही यह भी आदेश दे दिया है कि तुम तो आत्मा हो जो अत्यन्त सूक्ष्म तथा बलवान् है, फिर तुम्हें बलात् किसी कुकर्म में कौन लगा सकता है? हाँ, 'काम' ही—ये नाना कामनाएँ ही—मनुष्य को कुमार्ग पर लगा देती हैं। इन कामनाओं का नाश कर दो। कामनारहित हो जाओ तो चित्त एकाग्र ही है। समाधान हुआ ही पड़ा है।

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान, ये खज़ाने (कोष) जब साधक के पास एकत्र हो जाते हैं तो वह षट्सम्पत्ति का स्वामी बनकर भगवान् के दरबार में जाने का अधिकारी बन जाता है।

(४) मुमुक्षुत्व

तत्त्वज्ञान तथा मोक्ष के साधन-चतुष्टय का वर्णन करते हुए विवेक, वैराग्य और षट्सम्पत्ति का वर्णन किया गया है। अब चौथे साधन 'मुमुक्षुत्व' की ओर ध्यान दीजिये। श्री शंकराचार्य जी से जब पूछा गया कि "मुमुक्षुत्वं किम् ?" तो उन्होंने कहा—"मोक्षो मे भूयादितीच्छा" अर्थात् "मेरा मोक्ष हो, ऐसी इच्छा का होना मुमुक्षुत्व है।" स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने इसकी व्याख्या यह की है—

"जैसे क्षुधा-तृषातुर को सिवाय अन्न-जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे विना मुक्ति के साधन और मुक्ति से अन्य दूसरे में प्रीति न होना मुमुक्षुत्व है।"

उत्कट इच्छा होना कि सर्व प्रकार के दुःखों से साधक को छुटकारा हो जाय और परमानन्द प्राप्त हो—साधक जब इस अवस्था में पहुँचता है तो फिर उसे परमार्थ के बिना और कोई बात प्रिय ही नहीं लगती। ऋषि दयानन्द जी की यह उपमा बड़ी उपयुक्त है कि जैसे भूखे को रोटी और प्यासे को पानी के सिवा और कुछ नहीं सूझता, इसी प्रकार मुमुक्षु को मुक्ति के प्रसंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं भाता। जैसे प्रियतम के प्रेम में प्रेमी सिवाय प्रियतम के बाकी सब-कुछ भूल जाता है, इसी प्रकार मुमुक्षु की अवस्था हो जाती है। वह तब प्रियतम के वियोग में तड़पनेवाले विरही की तरह कबीर के शब्दों में कहता है :

मैं प्यासी हौं पीव की, रटत सदा पिव-पीव।
पिया मिले तो जीवहौं, सहजै त्यागो जीव॥

चातक जसी अवस्था

पृथिवी पर जल की क्या कमी है ? कितनी नदियाँ बहती चली जा रही हैं। हमारे देश की गङ्गा, यमुना, ब्रह्मपुत्र और दूसरे नदी-नद, फिर इतने समुद्र ! परन्तु चातक इनके होते हुए भी स्वाति की बूँद के लिए आकाश की ओर दृष्टि लगाए उड़ता ही रहता है। वह प्यासा मर

जायेगा, पर इन नदियों का जल ग्रहण नहीं करेगा :

गङ्गा यमुना सरस्वती, हैं जग में भरपूर।
तुलसी चातक के मते, स्वाति बिना सब धूर॥

साधक को ऐसी अवस्था में केवल आत्म-दर्शन की चाह के प्रेम में उन्मत्त हो उठने पर ही मुमुक्षु का पद मिल सकता है। मुमुक्षु फिर संसार में रहता हुआ भी उसके जाल में नहीं फँसता, क्योंकि उसकी वृत्ति हर समय दुःखों से छूटने और परमप्रिय परमात्मा से एक हो जाने की बनी रहती है। फलतः वह विषयों को विष के समान दूर ही से त्याग देता है और सन्तोष, दया, क्षमा, सरलता, शम, दम का अमृत नित्यप्रति सेवन करता रहता है, जिससे वह मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, रक्त, चर्म, त्वचा—इन सात धातुओं से बने स्थूल शरीर ही को अपना उपास्य देव नहीं समझता, अपितु इसे अपने प्रियतम तक पहुँचने का साधन-मात्र समझकर इसकी रक्षा करता हुआ आत्मतत्त्व को पाने के लिए हर समय यत्नशील रहता है। वह समझ जाता है कि यह मनुष्यत्व प्रभु की कृपा ही से मिलता है। इसे पाकर प्रभु-कृपा का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये, अपितु इसे प्रभु-मिलन का एकमात्र साधन जानकर प्रियतम ही की खोज में लगे रहना चाहिये।

ये चार साधन तत्त्वज्ञान के ऋषियों ने वर्णन किये हैं। ऋषि दयानन्द ने इनको मोक्ष के विशेष साधन लिखा है और 'सत्यार्थप्रकाश' के नवम समुल्लास में इनकी सुन्दर व्याख्या भी की है। 'विवेक-चूड़ामणि' में भी इन्हीं के द्वारा साधक मोक्ष का अधिकारी बनता है। वहाँ ७१ और ७२ दो श्लोकों में सारा सार खींच दिया है :

मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु।
ततःशमश्चापि दमस्तितिक्षा न्यासःप्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम्॥
ततः श्रुतिस्तन्मननं सतत्त्वध्यानं चिरनित्यनिरन्तरं मुने।
ततोऽविकल्पपरमेत्य विद्वानिहैव निर्वाणसुखं समृच्छति॥

'मोक्ष का प्रथम हेतु अनित्य वस्तुओं में अत्यन्त वैराग्य होना कहा है। तदनन्तर शम, दम, तितिक्षा और सम्पूर्ण आसक्तियुक्त कर्मों का सर्वथा त्याग है। तदुपरान्त मुनि को श्रवण, मनन, चिरकाल तक नित्य

निरन्तर आत्म-तत्त्व का ध्यान रखना चाहिये, तब वह विद्वान् परम निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त होकर निर्वाण-सुख पाता है।

साधक की तैयारी

तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनने के लिए जिन चार विशेष साधनों का वर्णन किया गया है, इससे यह प्रकट हो गया कि कितनी बड़ी तैयारी तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए करनी होती है और वह वस्तु कितने बड़े महत्त्व की होगी, जिसको पाने के लिए इतना त्याग, इतना तप और इतना वैराग्य धारण करना पड़ता है।

इन चार साधनों के अतिरिक्त साधक ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन की वाटिका में से गुजरकर साक्षात्कार के चौक तक पहुँचना होता है। महर्षि दयानन्द के शब्दों में साधक को "सदा तमोगुण अर्थात् क्रोध, मलीनता, आलस्य, प्रमादि आदि, रजोगुण अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेप आदि दोषों से अलग होके सत्त्व अर्थात् शान्त-प्रकृति, पवित्रता, विद्या, विचार आदि गुणों को धारण करना चाहिये।" "सुखी जनों में मित्रता, दुःखी जनों पर दया, पुण्यात्माओं से हर्षित होना, दुष्ट आत्माओं में न प्रीति और न वैर करना चाहिये।" "नित्य-प्रति न्यून-से-न्यून दो घण्टापर्यन्त मुमुक्षु ध्यान करे, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों।"

इसी सम्बन्ध में तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनने के लिए महर्षि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के उपासना-विषय में पूरे अनुभव और बड़े महत्त्वपूर्ण आदेश दिये हैं। 'यजुर्वेद' के ११वें अध्याय का पहला मन्त्र देकर लिखा है :

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽ अध्याभरत ॥ १ ॥ यजु० ॥

'योग को करनेवाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्वज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान के पहले जब अपने मन को परमेश्वर में युक्त करते हैं तब परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं। पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है।' और 'यजुर्वेद' के इसी

अध्याय के तीसरे मन्त्र की व्याख्या में महर्षि ने लिखा है कि :

"वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको (साधकों को) युक्त करके अनके आत्माओं में प्रकाश (बृहज्ज्योति) को प्रकट करता है।"

इन दोनों मन्त्रों और महर्षि की व्याख्या से यह सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञान के अधिकारी के (हृदय) आत्मा में बृहज्ज्योति प्रकट हो जाती है; परन्तु यह तभी होता है, परमात्मा जब आप कृपालु होते हैं। अधिकारी बनने के लिए जहाँ और साधनों को साधक सम्पन्न करता है, वहाँ उसे प्रभु-कृपा की भी प्रतीक्षा करनी होती है। इन साधनों को प्रयोग में लानेवालों को पूर्ण विश्वास दिलाने के लिए 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में यजुर्वेद के इसी अध्याय का पाँचवाँ मन्त्र भी दिया है जिसमें भगवान् की ओर से प्रतिज्ञा है और साधक के लिए पूरा आश्वासन है :

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक ऽ एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वेऽ अमृतस्य पुत्राऽ आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥

यजु० ११।५॥

'उपासना का उपदेश देनेवाले और ग्रहण करनेवाले, दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम सनातन ब्रह्म की सत्य-प्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे, मैं तब तुमको आशीर्वाद देऊँगा कि सत्य-कीर्ति तुम दोनों को प्राप्त हो। किसके समान ? जैसे परम विद्वान् को धर्म-मार्ग यथावत् प्राप्त होता है, इसी प्रकार तुमको सत्य-सेवा से सत्य-कीर्ति प्राप्त हो। फिर भी मैं सबको उपदेश करता हूँ कि—हे मोक्ष-मार्ग के पालन करनेवाले मनुष्यो ! तुम सब लोग सुनो कि जो दिव्य लोकों अर्थात् मोक्ष-सुखों को पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासना-योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त होओ। इसमें सन्देह न करो, इसलिए मैं तुमको उपासना-योग में युक्त करता हूँ।'

स्वयं भगवान् की ओर से इतना बड़ा आश्वासन पाकर तो साधक उछल पड़ेगा और वह आत्म-दर्शन तथा तत्त्वज्ञान के मार्ग पर तीव्रता

से अग्रसर होगा। परन्तु एक बार फिर ध्यानपूर्वक वेद भगवान् का यह आदेश सुन लो कि :

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे ॥

अथर्व० १९। ८। २॥

'अट्ठाईस की सेना जो मेरे साथ है, हे शिव ! वह भी उपासना-योग में प्रवृत्त होकर उसी में लगी रहे।' यह २८ की सेना कौन-सी है जिसका संकेत वेद भगवान् ने किया है ? यह सेना है :

दश इन्द्रियाँ, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल, ये अट्ठाईस-के-अट्ठाईस जब तक साथ नहीं देते और सब-के-सब उपासना-मार्ग पर अग्रसर नहीं होते, तब तक सफलता कहाँ ? स्थूल शरीर से लेकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म इन्द्रिय तथा भावना तक ये सारे-के-सारे आत्मा के सच्चे मित्र और सङ्गी बनकर प्रभु से युक्त होने के लिए जब कटिबद्ध हो जाते हैं, फिर तो प्रभु की कृपा स्वयमेव ज्योति के रूप में प्रकट हो जाती है और साधक को तत्त्वज्ञान का अधिकारी घोषित कर देती है।

: ६ :

बाल्य-काल की कथा

बाल्य-काल की अपने पुरोहित जी से एक कथा सुनी थी। कितना ही समय बीत गया—छप्पन वर्ष से अधिक। मेरी आयु तब १२ वर्ष की थी। व्यास-पूजा का दिन था। भगवान् वेदव्यास के जीवन की कितनी सुन्दर बातें पण्डित जी ने सुना डालीं। उनमें से एक घटना ने मेरे हृदय पर छाप-सी लगा दी। यह थी सरस्वती नदी के तट की घटना। अकेले ही बैठे थे श्री वेदव्यास जी। आज उनका चित्त कुछ खिन्न-सा था, मुख पर उदासी थी। अपने-आप ही बोल उठे—"बाल्य-काल में सदाचारी रहा। वेद, गुरु, अग्नि की सेवा निष्कपट भावना तथा शुद्ध अन्तःकरण से की, सदा उनकी आज्ञा-पालन को कर्त्तव्य समझा। वेद-आदेश सर्वसाधारण के पास भी पहुँच जायँ—इस उद्देश्य से ग्रन्थ भी लिखे; परन्तु यह क्या बात है कि जीवात्मा फिर भी प्रसन्न नहीं? ऐसा प्रतीत होता है कि मैं अभी किसी त्रुटि के कारण कृतार्थ नहीं हुआ...।" यह कह ही रहे थे कि इतने में देवर्षि नारद सामने से आते दिखाई दिये।

श्री नारद मुनि जी के आते ही श्री वेदव्यास जी उनसे कहने लगे—"नारद जी! आप सारे देशों में शान्ति और आनन्द का प्रसार करते हैं। कृपया मुझे भी बतलाइये कि इतनी विद्या प्राप्त करने के पश्चात् भी मेरे में क्या न्यूनता है कि मुझे अपेक्षित शान्ति प्राप्त नहीं हुई?"

उत्तर में नारद जी ने कहा—"विप्रर्षि! आपने अपनी ओर से तो कोई बात उठा नहीं रखी, परन्तु अभी एक न्यूनता रह गई, उसी के कारण अभी पूरी प्रभु-कृपा नहीं हुई; और जब तक प्रभु-कृपा नहीं तब तक शान्ति कहाँ? और प्रभु-कृपा होती है ईश के साथ सच्ची रति (प्रेम) होने से। इसी को भगवान् के प्रति अनन्य भक्ति कहते हैं।"

इस कथा को सुनने के पश्चात् बाल्य-काल से युवा-अवस्था आई। तरुणाई के पीछे अधेड़ आयु आई, फिर आई वृद्ध-अवस्था। परन्तु यह कथा हृदय में कुछ ऐसी समाई कि किसी अवस्था में विस्मृत न हो सकी।

अनन्य भक्ति क्या है ?

यह अनन्य भक्ति क्या है जिसके बिना शान्ति मिलती ही नहीं ? महर्षि पतञ्जलि ने 'योगदर्शन' में इसी का नाम 'ईश्वरप्रणिधान' रखा है। गीता ने इसी को 'शरणागति' कहा है और इसी द्वारा समाधि तक पहुँचने का विधान किया है। साथ ही यह आदेश किया है कि ईश्वर-प्रणिधान से सारे विघ्नों का नाश होकर परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। महर्षि स्वामी दयानन्द ने इसी का नाम 'उपासना' रखा है और बतलाया है कि "**उपासना का फल ईश्वर के अनुग्रह ही से प्राप्त होता है।**" वह फल कैसा है जो परिपक्व, शुद्ध-परम-आनन्द से भरा हुआ और मोक्ष-सुख का प्राप्त करानेवाला है ? यह उपासना-योग-वृत्ति सब क्लेशों का नाश करनेवाली और सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है। महर्षि ने मुक्ति का 'उत्तम साधन' उपासना ही को बतलाया है और समाधि-अवस्था प्राप्त करने के लिए ईश्वर-प्रणिधान भी साधन बतलाया है और इसका अर्थ किया है—'ईश्वर में विशेष भक्ति'।

महर्षि दयानन्द यही आदेश देते रहते थे कि ईश्वर-कृपा प्राप्त करो। 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' के ईश्वर-प्रार्थना विषय में महाराज लिखते हैं—"जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा को विज्ञान देनेवाला है,...जिसका आश्रय करना ही मोक्ष-सुख का कारण है और जिसकी अकृपा (कृपा न होना) ही जन्म-मरण-रूप दुःखों को देनेवाली है,...उस परमेश्वरदेव की प्राप्ति के लिए सत्य, प्रेम, भक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें, जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो।"

'कठोपनिषद्' में यम ने भी तो यही कहा था :

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम्।

कठो० २। २३॥

'यह परमात्मा जिसके ऊपर कृपा करता है, वही इसे प्राप्त कर पाता है। उसी के लिए वह अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित कर देता है।'

यह भक्ति किस प्रकार से की जाती है? इसके सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द लिखते हैं:

"अब उसकी भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिए? सो आगे लिखते हैं—जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है। इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ-विचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो, जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेम-भक्ति सदा बढ़ती जाय।"[1]

जब भक्ति से परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर का प्रेम बढ़ता है, तब भक्त प्रसन्नता के हिलोरे लेने लगता है। भक्ति प्रभु-प्रेम की वह उच्चतम अवस्था है जहाँ पहुँचकर भक्त अपने-आपको भी खोया हुआ पाता है और मग्न होकर धीमे-धीमे कहता है:

"अब हम गुम हुए—गुम हुए प्रेम-नगर के शहर।" तब भगवान् का नाम-स्मरण, प्रभु-गाथा, प्रभु-कीर्तन और प्रभु-वार्ता के अतिरिक्त साधक को और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। वह परमात्मा ही को अपना एकमात्र आश्रय, परमगति और सर्वस्व समझने लगता है; संसार के सारे सम्बन्धों से बढ़कर परमात्मा ही से अपना एकमात्र गूढ़ सम्बन्ध अनुभव करता है; अब वह लज्जा, भय, मान, बड़ाई, आसक्ति से ऊपर उठ जाता है; ममता से रहित हो जाता है, अनन्य-भाव से, पूरी श्रद्धा से, अत्यन्त प्रेम से, परमात्मा ही का आज्ञा-पालन, प्रभु ही का गुण-वर्णन और उसी का जप करना उसे प्रिय लगता है; वह किसी से वैर नहीं रखता। सर्वदा सबसे प्रीति करता है, सत्य-भाषण करता है, जितेन्द्रिय हो जाता है और निरभिमानी हो जाता

---

१. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, उपासना-विषय।

है। कारण—वह ऋषि दयानन्द के शब्दों में और 'कठोपनिषद्' के आदेश से जानता है कि—

"यह उपासना-प्रयोग दुष्ट मनुष्यों को सिद्ध नहीं होता क्योंकि जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता, भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े वा सुने, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं।"[1]

प्रेम-तत्त्व का उदय

भक्त के हृदय में ईर्ष्या, द्वेष और इसी प्रकार के अन्य क्षुद्र भाव रहने नहीं पाते। साधक के हृदय में तब एक ही तत्त्व होता है और उसी का नाम है 'प्रेम'। भक्ति का स्वरूप क्या है? प्रेम ही तो उसका स्वरूप है:

सा त्वस्मै परमप्रेमरूपा।" नारद, भक्तिसूत्र ॥

स्वामी विवेकानन्द जी ने भी यही कहा है कि "भक्त का वैराग्य प्रेम से ही पैदा होता है। भक्त के हृदय में कभी किसी के प्रति क्रोध या घृणा नहीं आती। प्रेम का बल भक्त को परमात्मा की ओर खींचता लिये जाता है। यही महान् आकर्षण भक्त की समस्त आसक्तियों का नाश कर देता है। यही प्रबल अनन्त प्रेम भक्त के हृदय में प्रवेश करके अन्य सभी आसक्तियों को वहाँ से निकाल देता है। भक्त जब स्वयं भगवान् के प्रेम-रूपी समुद्र-जल से अपने हृदय को भरा देखता है, तब दूसरी आसक्तियाँ टिक भी कैसे सकती हैं? सारांश यह है कि भक्त का वैराग्य अर्थात् भगवान् के सिवा अन्य समस्त विषयों में अनासक्ति भगवान् के प्रति प्रेम से ही उत्पन्न होती है।"

---

१. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, उपासना-विषय।

कबीर जी ने इस प्रेम-रूपी भक्ति का कितना सुन्दर वर्णन किया है :

कबिरा काजल-रेखई, अब तो दई न जाय।
नैनन प्रीतम रमि रहा, दूजा कहाँ समाय॥

'आँखों में काजल भी अब लगाना कठिन है। क्यों ? वहाँ तो प्यारा प्रीतम रमा हुआ है। अब सुरमे के लिए भी स्थान नहीं रहा।'

रहीम ने भी ठीक कहा है :

प्रीतम छवि नैननि बसी, पर-छवि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, आप पथिक फिर जाय॥

जब प्रेमी भक्त ने परमात्मा को वर लिया, अपने-आपको उसी प्रियतम के समर्पण कर दिया तो अब प्रभु के अतिरिक्त भक्त के हृदय में किसी का विचार भी नहीं आ सकेगा। स्वप्न में भी अन्य का विचार नहीं घुस सकेगा। इसी का नाम भक्ति है, ईश्वर-प्रणिधान है, उपासना है और शरणागति है।

परमप्रेम भक्ति

भगवान् नारद ने लिखा है—"ईश्वर के साथ परम-प्रेम को भक्ति कहते हैं।" ऐसी ईश्वर-भक्ति अमृतस्वरूपा है; मधु से मीठी, अमृत-जैसी मधुर है। 'शाण्डिल्य-सूत्र' में कहा है कि "सा परमानुरक्तिरीश्वरे" अर्थात् ईश्वर से पूरी आसक्ति का नाम भक्ति है। 'नारद-पाञ्चरात्र' में लिखा है :

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।

'ईश्वर में अनन्य प्रेमयुक्त अनन्य ममत्व का अनुभव भक्ति है।' और यह 'अनन्यता' क्या है ? उसका उत्तर नारद जी यह देते हैं—"अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता" अर्थात् 'दूसरे का (अन्य का) आश्रय छोड़ देना अनन्यता कहलाती है।'

वेद भगवान् ने भी तो यह आदेश किया है :

"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"

'उसको जानने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।' मीरा मस्त होकर यही तो गाया करती थी :

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोय रे।

सारे आश्रय त्यागकर, संसार की आसक्तियाँ तोड़कर जब एक भगवान् की शरण पकड़ ली जाती है, भक्त और साधक का हृदय तब प्रेम-सागर से उमड़ पड़ता है; प्रेम-ही-प्रेम में मग्न होकर वह अपने परमप्रिय को पुकारने लगता है :

बनी दीन गरीब अनाथ महा,
यह दासी परी शरणागत तेरे।
सब स्वारथ मित्र से विश्व भरा,
अब तेरे सिवाय नहीं कोऊ मेरे॥
किये दोष अनेक अजानपने,
करि माफ करा, हौं रावरे चेरे।
तकसीरों को याद करो मत हा,
अब राखो दयानिधि चरण से नेरे॥

नन्हा शिशु रो रहा है, दूध की भूख लगी है, वह माँ ही से मिल सकता है। तब वह शिशु 'माँ-माँ' ही की रट लगा देता है। गाय का बछड़ा गाय से कहीं अलग हो गया। लगा पुकारने—'माँ-माँ-माँ!' और जब तक माँ नहीं मिली वह 'माँ-माँ-माँ' ही का जप करता रहा। पपीहा 'पी-पी' करता रहता है। प्रेमी प्रियतम के ध्यान में उसी को पुकारता रहता है। जब तक दर्शन नहीं होते, मिलाप नहीं होता, भक्त उसे पुकारता ही रहता है—ओ३म्, ओ३म्, ओ३म्, ओ३म्। दर्शन जब नहीं होते तब रुदन प्रारम्भ हो जाता है। नेत्र जल-पूर्ण हो गये प्यारे को पुकारते। उसके गीत गाते कण्ठ रुकने लगा, रोमाञ्च होने लगा। अश्रुयुक्त नेत्रों से वह अनन्य भक्त प्यारे से कहता है :

सब जग भुल्लनहार!

तेरे दर्शन की आशा मन में लिये तुझे पुकारता हूँ। यह ठीक है कि मुझसे तेरे नियम प्रतिदिन टूटते हैं, न चाहता हुआ भी भूल कर ही बैठता हूँ, इच्छा यही होती है कि इस जीवन-यात्रा में पाँव न फिसलें, परन्तु फिसल ही जाते हैं, प्यारे! क्या मेरे ही फिसलते हैं? सभी के फिसलते हैं, प्राणेश्वर!—

सब जग भुल्लनहार है।
इक अभुल्ल करतार है॥

कोई भी भूल न होगी तो फिर तेरा ही रूप न हो जायेंगे ? फिर तुझे काहे को पुकारेंगे ? हमारी भूल-चूक क्षमा करो, हमसे रूठो नहीं।

जे मैं भुल्ल बिगाड़िया, मेला करीं न चित्त।
साहिब गौरा लोड़िये, नफर बिगाड़े नित्त॥

तेरा अनुग्रह-लाभ करने के लिए हे भगवन् ! तुझे पुकार रहा हूँ। यदि अपराधी हूँ तो भी, यदि पात्र या अधिकारी हूँ तो भी, तेरी दया के बिना तो कुछ बनने का नहीं। तेरी पवित्र वाणी वेद में तूने ही तो यह घोषणा कर रखी है कि :

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत्।
भद्रं भवाति नः पुरः॥ ऋ० २।४१।११॥

'जब वह शक्तिशाली भगवान् हमारे ऊपर दयालु होता है तो पाप हमारे पीछे नहीं पहुँचता, पाप हमारा पीछा नहीं करता और नेकी हमारे आगे होती है।'

फिर यह दयालुता कब के लिए रखी हुई है ? अब आओ ! दया करके दर्शन दे दो ! क्या मिलोगे नहीं ? कब तक मार्ग देखना होगा ? तेरा और मेरा एक हो जाने का समय कब आयेगा ? कब 'मुण्डकोपनिषद्' की वाणी में मैं यह कह सकूँगा—"परम साम्यमुपैति"। ओह ! यह दिन देखने के लिए जीवित हूँ, अन्यथा जीने को अब जी नहीं चाहता। तेरे दर्शन और मिलाप के बिना खाना, पीना, सोना, जागना, सब व्यर्थ प्रतीत होते हैं, परन्तु यह सब इसलिए करता हूँ ताकि इस शरीर को जीवित रखकर तेरे दर्शन स्थूल शरीर से न सही, सूक्ष्म शरीर से तो पा सकूँगा। तेरे मिलने की आशा ही अब तक लिये फिरती है परन्तु तेरी कृपा के बिना यह दर्शन कहाँ ? सुना है तू दयामय है, स्नेहमय है, प्रेममय है, भक्तवत्सल प्रभु है, करुणामय स्वामी है, प्रीतिमय सखा है और प्यारपूर्ण कान्त है। तेरे ये सारे गुण तब मेरे काम किस दिन आयेंगे ?

मेरे लिए कब ?

तू तड़पते हुए चातक के लिए स्वाति-बूंद लाता है, सूखती खेती के लिए वृष्टि लाता है, सारे प्राणियों की क्षुधा मिटाने के लिए हर प्रकार का अन्न उपजाता है। तेरी ये सारी शक्तियाँ मेरे काम कब आयेंगी ? सुना है तू ही था जिसने सुषुप्त प्रकृति में अपनी नन्ही-सी सामर्थ्य से वह गति उत्पन्न की कि यह सारी सृष्टि मूर्तिमान् होकर सामने आ खड़ी हुई। इतने बड़े विशाल संसार के धारण करने में, प्यारे! जब तुझे कुछ भी श्रम नहीं हुआ तो हे सब शक्तियों के स्वामी! मैं तेरा भक्त तो एक परमाणुरूप भी नहीं। मुझे सन्तोष देने में तुझे क्या श्रम होगा ?

क्या मेरा रुदन सहन कर लोगे ?

यही विचार करते-करते मेरे नेत्र जल बरसाने लगते हैं कि—यदि और प्रकार से नहीं तो रुदन देखकर तो तुम्हारा हृदय अवश्य द्रवित हो उठेगा :

कबीरा हँसना दूर कर, रोने से कर चीत।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मीत॥
हँस-हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हंसे खेले पिव मिले, कौन दुहागिन होय॥

भागवत में भी तो यही कहा है :

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रु कलया शुद्ध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥
भाग० १४। २२॥

'रोमाञ्च के बिना, भगवत्-चिन्तन से पिघले हुए चित्त के बिना और आनन्द से उत्पन्न अश्रु-बिन्दु के बिना, कैसे भक्ति प्रतीत होती है और भक्ति के बिना अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है ?'

शिशु का रुदन माता सहन नहीं कर सकती; फिर जब हटकोरे ले रहा हो तब तो माता सौ काम छोड़कर उसे गोद में उठा लेती है।

'माँ! रोते-रोते मेरी भी हिचकी बंध रही है। रोता ही रहूँगा, रोता ही रहूँगा, जब तक तू अमृत नहीं पिलायेगी, रोता रहूँगा।

माँ! मुझे मुक्ति न दे, बार-बार जन्म ही देती रह, परन्तु साथ ही अपना अनुग्रह और कृपा-दृष्टि भी। तभी तो तेरे दर्शन हो सकेंगे!'

ऐसे ही घण्टों व्यतीत हो जाते हैं। रोते-रोते हृदय की मैल धुल जाती है। एक अद्भुत निर्मलता, पवित्रता, निरभिमानता, दीनता, सहनशीलता और दयालुता का प्रवाह हृदय से बहने लगता है। भक्त को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह सच्ची माता, वह प्रियतम, वह प्यारा, वह सबसे सुन्दर आ पहुँचा है। आकर बैठ गया है हृदय-मन्दिर में। कितनी सुन्दर शोभा है उसकी! सारे तत्त्वों से निखरा हुआ, अन्तिम तत्त्व आकाश से भी ऊपर। ओह! कितनी शुभ्र, कितनी चित्ताकर्षक ज्योति और आभा है! प्रकाश-ही-प्रकाश! तम का किसी कोर में चिह्न भी नहीं और हृदय ही में क्यों, खुली आँखों के सामने। यह विभिन्न पदार्थों में, चन्द्र में, पृथिवी में, जल में, वृक्षों में, वनस्पतियों में, सबमें तू ही आकर बैठ गया है। हाँ, तू ही—

जग में आकर इधर-उधर देखा।
तू ही आया नज़र जिधर देखा॥

भक्त गया वाटिका में

भक्त चला गया वाटिका में। वहाँ नाना प्रकार के पुष्प खिल रहे थे। माली माला गूँथने के लिए फूल तोड़कर टोकरी में डाल रहा था। भक्त माली से कहने लगा :—

हार गूँथकर कहाँ जायगा उसे ढूँढने तू माली।
देख! इन्हीं पुष्पों के अन्दर उसकी मूरति मतवाली॥
रूप-रङ्ग-सौरभ पराग में भरा उसी का प्यारा रूप।
जिसके लिए इन्हें चुन-चुनकर हार गूँथता तू अपरूप॥

फिर देखो, युग बीते, युगान्तर बीते, जन्म हुए, मृत्यु आई, फिर जन्म हुए। कितना पुराना हो गया यह संसार! परन्तु फूलों की सुगन्ध पुरानी न हुई। श्यामल तृण-गुच्छ, नवीन पत्रावली, नई-नई कलियाँ, नई ही कोंपलें, यह सब-कुछ वैसे-का-वैसा और यह ऊपर के अगणित तारक-तारिकाओं से विमण्डित सुनील नभोमण्डल, वह नवजात अरुण रवि की रक्त किरणें, नित्य नई कला परिवर्तन करनेवाला

चन्द्र, फिर अमावस्या का घन-कृष्ण अन्धकार, ये सब नये ही बनकर आ जाते हैं। फिर यह थकी हुई दुनिया, कुम्हलाये मुखमण्डल, प्रतिदिन प्रातः तरुण, ताज़ा हो जाते हैं। कौन है वह जो प्रभात होने से पहले ही इन सबको नहला, धुला, सजा, बनाकर रख देता है? भक्त ने देखा—यह तो उसी का प्राणप्यारा है; सारे प्राणियों, सारी वनस्पतियों, सारी ज्योतियों, अग्नियों, सूर्यों, चन्द्रों तथा तारा-मण्डलों का प्राण प्रभु ही है।

भक्त फिर कहता है

जब सबके पास यह पहुँचता हैं, सभी को प्राण देता है तो मेरी बेर आते ही क्या सारी प्रभुताई भूल जाती है? क्या मैं भी इसी संसार का एक नन्हा-सा अकिञ्चन जीव नहीं हूँ? अब भक्त प्रेम-भक्ति में अधिक उन्मत्त हो उठता है। विचारधारा थोड़ी बदलती है। जहाँ अगाध प्रेम हो, वहीं शिकायत भी होने लगती है। भक्त ने अब वैसा रूप धारण किया और कहने लगा, तेरी लीला भी देख ली और महिमा भी, परन्तु इन दोनों से तू परे ही रहा। फिर भी तेरी महिमा के गीत तो भक्त ही गाते हैं। तुझे भगवान् तो हम ही बनाते हैं। भक्त न हों तो भगवान् कहाँ? तेरी सत्ता हमारी ही सत्ता से है। एक उर्दू कवि ने तो यह भी कह डाला :

ख़याल मेरे की यह बुलन्दी,
किया है पैदा खुदा को मैंने।

फिर इतना भी हठ क्या? जब भक्त पुकार रहा है तो इसपर करुणा—कृपा-दृष्टि क्यों नहीं?

भक्त का अल्टीमेटम

सुना है एक भक्त तो प्रेमवश रूठ ही बैठा और रूठने की सीमा से और आगे बढ़कर 'दावा दायर' कर देने की धमकी देने लगा :

तारिहौ न शम्भो! तो हम अम्ब की अदालत में,
नेह को वकील करि, नालिश लगायँगे॥
वादा सदा तारिबे को, कीन्हो त्रिपुरारि आप,
अब इन्कार, यही दावा लिखायँगे॥

दावा जो जवाब में कहोगे, यह पातकी है,
तो अनेक पापिन की, नजीर दिखलायँगे॥
ऐसे हू पै नाहिन जो तारोगे दिगम्बर! तो,
कोष करुणा को, सबै कुरक करायँगे॥

परन्तु यहाँ तक नौबत नहीं आने की। भक्त को इतना अधीर नहीं होना होगा। अल्टीमेटम देने की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता केवल इतनी है कि भक्त या साधक अपना हृदय भगवान् के अर्पण कर दे। उसी के सामने बिक जाय। भक्त के हृदय-मन्दिर से अपने ही प्यारे प्रभु की जोत जले। शेष सारा कूड़ा-करकट उस प्रेम-अग्नि में भस्म हो जाय। भक्त के समक्ष केवल दो पदार्थ रह जायँ—एक भक्त, दूसरा भगवान्। इसके सिवा और कोई वस्तु न रहे। भक्ति का सूर्य चढ़ता ही तब है जब बाकी सारे संसारी पदार्थों, ममताओं, आसक्तियों की काली घनघोर घटाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। भक्ति का उदय होने से पूर्व सारे विषयों से उपरामता हो जाती है और फिर भक्ति का रंग चढ़ते ही उसे 'ईश्वर' ही की बातें प्रिय लगने लगती हैं। जब किसी युवती अथवा युवक के विवाह का प्रस्ताव हो जाता है तो यह स्वाभाविक है कि जब कभी भी युवक अथवा युवती की बात छिड़ जाय, तो युवती और युवक पूरे चाव से तन्मय होकर उसे सुनते हैं। भक्त की अवस्था भी ऐसी ही होती है। जब श्रवण-मनन करते-करते पर्याप्त समय बीत जाता है, तब अपने प्यारे प्रभु से तन्मय हो जाने की धुन सवार हो जाती है। किसी व्यक्ति के प्रति जब अनुराग बढ़ता है तो उसे देखने-सुनने तथा स्पर्श करने के लिए एक स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इसी को तो प्रेम या प्यार कहते हैं। यही प्यार जब भगवान् के प्रति हो तो फिर यही प्यार भक्ति कहलाता है। जब यह अवस्था हो जाती है तो फिर भक्त क्षणभर का भी विरह सहन नहीं कर सकता। वह चाहता है दर्शन, मिलाप और प्रभु से एक हो जाना, जैसे लोहा अग्नि की गोद में जाकर अग्निरूप हो जाता है।

परन्तु यहाँ तक पहुँचने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि भक्ति एक ही प्रकार की नहीं होती। इसके भी कितने ही रूप सामने

आते हैं। भक्ति के तीन प्रकार तो ये हैं—(१) तामसी भक्ति, (२) राजसी भक्ति, (३) सात्त्विकी भक्ति। (१) तामसी भक्ति तो वह है जब मनुष्य केवल संसारी स्वार्थ-सिद्धि के लिए यत्न करता है। (२) राजसी भक्ति यह है कि सांसारिक स्वार्थों की प्राप्ति के साथ कुछ परोपकार की भी भावना हो जाती है। (३) सात्त्विकी भक्ति यह है कि केवल कर्त्तव्य जानकर या जन्म-जन्मान्तरों की एकत्रित वासनाओं को नष्ट करने के अभिप्राय से ईश्वर-कृपा प्राप्त करने के हेतु भक्ति की जाय। यही भक्ति फिर परा-भक्ति तक पहुँचा देती है। परा-विद्या तथा परा-भक्ति से नित्य ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

गीता में चार प्रकार के भक्तों का वर्णन आता है—

(१) **आर्त्त**—दु:ख, पीड़ा, कष्ट में परित्राण की इच्छा लेकर भगवान् को पुकारनेवाले भक्त। (२) **जिज्ञासु**—प्रभु की खोज में निकले हुए भक्ति का मार्ग चाहनेवाले भक्त। (३) **अर्थार्थी**—जो भोग तथा विषयों की कामना की पूर्ति में लगे हुए हैं, तथा (४) **ज्ञानी**—जो पूरे ज्ञानवान् होकर श्रद्धा-प्रेम से प्रभु-भजन तथा प्रभु-आज्ञा का पालन करते हैं और बिना किसी कामना एवं बिना किसी लोभ के सर्वथा स्वार्थ-रहित होकर भगवद्-भजन में ही तत्पर रहते हैं।

अन्य दो प्रकार की भक्ति

भक्ति के अन्य दो प्रकार भी बतलाये जाते हैं—(१) साधनरूपा भक्ति, और (२) प्रेमलक्षणा भक्ति। पूरे सोच-विचार और जिज्ञासा-पूर्वक की हुई साधनरूपा भक्ति ज्ञान का प्रकाश कर देती है। प्रेमलक्षणा भक्ति ज्ञान की नदी से पार ले-जाकर प्रभु के घने वन में प्रवेश करा देती है। प्रेमलक्षणा भक्तिवाले भक्त मुक्ति नहीं चाहते, स्वर्ग भी नहीं चाहते। वे चाहते हैं वह विरह-अग्नि, जिसमें वे गीली लकड़ी की तरह जलते रहें। उनको इसी में स्वाद आता हैं। ऐसे ही प्रेमी भक्त के सम्बन्ध में फ़ारसी भाषा में कहा है :

आहे सर्दो रंग जर्दो चश्मेतर,
इन्तजारो बेक़रारी बेसबर।

कम गुफ़्तनो कम ख़ुर्दनो ख़्वाबे हराम,
आशिकारा नौ निशाँ बाशद पिसर ॥

'ठण्डी आहें, पीला रंग, जलपूर्ण नेत्र, प्रतीक्षा, बेचैनी, असन्तोष, मितभाषिता, मिताहार और अनिद्रा—बेटा! प्रेमियों के ये नौ चिह्न हैं।'

इस अवस्थावाले भक्त न संशय करते हैं, न शंका, न शिकायत; वे इसी अवस्था में मस्त रहते हैं। बुल्लेशाह के शब्दों में कहते हैं :

बुल्ला आशिक हो यँ रब दा, मुलामत होवे लाख।
लोग 'क़ाफ़र, क़ाफ़र' आखदे तू 'आहो, आहो' आख ॥

प्रेम-भक्ति का नाश

जब प्रेम की, विरह की, प्रतीक्षा की अति हो जाती है और प्रेम-भक्ति का रंग पूरा चढ़ने लगता है तब वह कितने प्यारभरे शब्दों में पुकारता है :

जो किसी के भी नहीं बाँधे बँधे,
प्रेम-बन्धन से गये वे ही कसे।
तीन लोकों में नहीं जो बस सके,
प्यार वाली आँख में वे ही बसे ॥

इसी प्रकार इस प्रेम-भक्ति का नशा अधिक चढ़ जाता है तो उसे बाहर देखने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। कबीर के शब्दों में भक्त घोषणा करता है :

तेरा साजन है घट माहीं, बाहिर नैना क्यों खोले ?
कहें कबीर सुनो भाई साधो ! साजन मिल गये तिल ओले ॥

तब वह भक्त आँखें खोलना भी आवश्यक नहीं समझता। अपने ही अन्दर, अपने ही दिव्य नेत्रों की कोठरी में, प्रियतम या साजन को बिठला वह उसकी पूजा करता है :

तुझे देखें तो फिर औरों को किन आँखों से हम देखें ?
ये आँखें फूट जायें, गर्चे इन आँखों से हम देखें ॥

प्रेममग्न, प्रभु की प्यारी मीरा ने क्या सुन्दर तथ्य कहा है :

और का पिया परदेश बसत है, लिख-लिख भेजे पाती।
मेरा पिया मेरे हृदय बसत हैं, गूँज करूँ दिन-राती ॥

ज्ञानी भक्त

यह भक्ति का एक रूप है। दूसरा रूप वह है, जिसमें भक्त ज्ञानवान् होकर भक्ति में तत्पर होता है, और वह यह समझता है कि इस भक्ति में प्रवृत्त होने का मेरा एक लक्ष्य है। उस लक्ष्य को पूरा करने के लिए वह भगवान् की भक्ति में संलग्न होता है। ऐसे भक्त को यह शिक्षा मिल चुकी है कि मानव-जीवन पाने का प्रयोजन यह है :

तस्मै त्वा युनक्ति कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ यजु० ॥

'भक्ति करने, शुभ कर्म करने और ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही यह जन्म लिया है।' परन्तु भक्ति उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कर्म ठीक न हों। दिन-भर तो दुष्कर्म करते रहें और सायं को प्रभु-भक्ति में बैठ जायँ तो भक्ति हो ही नहीं सकेगी। जब तक यह ज्ञान नहीं कि शुभ-कर्म कौन-सा है और अशुभ कौन-सा, तब तक शुभ कर्म करने की सामर्थ्य ही नहीं आ सकेगी। इसी का नाम है ज्ञान, कर्म और उपासना। पहले प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान प्राप्त हो, फिर उस ज्ञान को क्रिया में लाया जाय। यह ज्ञान केवल पुस्तकालय की अलमारियों में या सिद्धान्तों के सन्दूक ही में बन्द न पड़ा रहे, अपितु मेरे जीवन के एक-एक कर्म में वह ज्ञान चमक उठे। कर्म जब पापरहित हो जायेंगे तो फिर प्रेम-भक्ति पूर्णरूप से उदय हो जायेगी; भक्त की हृदय-तन्त्री बज उठेगी। श्री भवदेव जी के शब्दों में यह ध्वनि गूँजने लगेगी :

प्रभो ! यही ले साध चला मैं साधन-पथ पर।
रटा करूँ तव नाम नित्य निष्काम निरन्तर॥
भोगों से मुख मोड़, छोड़ मद-मत्सर सारे।
छोड़ जगत् का मोह, टोह में लगूँ तुम्हारे॥
संत-शरण कर ग्रहण मैं, तव गुण-गरिमा गा सकूँ।
कृपा-सिन्धु में डूबकर, त्याग-रत्न मैं पा सकूँ॥ १ ॥
यह अन्तिम है साध, प्रेम-पारस मैं पाऊँ।
बना हृदय को स्वर्ग, विरह में उसे तपाऊँ॥

उर मेरा बन जाय सुखद स्वर्णिम सिंहासन।
दया-दान-दम आदि रहें, पूजन के साधन।।
मानस-मन्दिर में तुम्हें, मैं इस बार बुला सकूँ।
अश्रुहार उपहार दे, सर्वस्व भुला सकूँ।। २ ।।

प्रभु-दर्शन के मन्दिर

अब एक भक्ति और भी है जिसमें भक्त भगवान् की भक्ति करते-करते जब प्रभु-प्रेम का आस्वाद लेने लगता है और उसे अपने चारों ओर अपने प्यारे प्रभु ही की महिमा दृष्टिगोचर होने लगती है, साथ ही वह यह भी प्रत्यक्ष देखता है कि प्यारे के दर्शन मानव-हृदय में हो रहे हैं, वह तब हरएक मनुष्य को मानव-शरीर नहीं समझता अपितु प्रभु-दर्शन करने का मन्दिर समझता है। कारण यह है कि मानव-शरीर ही ब्रह्मपुरी है। यहीं पर भक्त और भगवान् दोनों इकट्ठे रहते हैं; अज्ञान तथा माया का एक आवरण ही बीच में है। उस पर्दे को हटाया और प्रेमी तथा प्रियतम दोनों आमने-सामने हो जाते हैं। ऐसा मिलाप मानव-देह में ही होता है। यह अटल सत्य अनुभव करके भक्त अब किसी भी मनुष्य से घृणा नहीं करता, अपितु उसे प्यार करने लगता है। भक्त हरएक मनुष्य को प्रभु का मन्दिर जानकर उसके प्रति श्रद्धा, प्रेम, भक्ति की भावना करता है। इस प्रभु-मन्दिर में यदि किसी प्रकार की कोई त्रुटि है तो उसे दूर करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। पूरा तप, पूरा प्रेम, पूरी भक्ति से भक्त का हृदय अपने लिए दुःखित नहीं होता, प्राणिमात्र के लिए चिन्तित होता है। उसकी भक्ति मुक्ति के लिए नहीं, अपितु दुःखी प्राणियों के दुःख को दूर करने के लिए होती है। वह अपने प्यारे से सामर्थ्य, शक्ति, बल, बुद्धि की याचना करता है तो इसलिए कि पीड़ित जीवों की पीड़ा को दूर कर सके। कुछ भक्त राज्य, धन तथा संसारी वैभव के लिए भक्ति करते हैं, कुछ स्वर्ग में पहुँचने के लिए, कुछ इन सबसे ऊपर उठकर मोक्ष में जाने के लिए। इन तीन प्रकार के भक्तों से निराले चौथे प्रकार के भक्त वे हैं जो न राज्य, न स्वर्ग, न मुक्ति चाहते हैं। वे चाहते क्या हैं ?

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

'मैं राज्य नहीं चाहता, स्वर्ग भी नहीं, मोक्ष भी नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ—दुःख से सन्तप्त प्राणियों के क्लेश का नाश।'

राजा रन्तिदेव की भक्ति

राजा रन्तिदेव के शब्दों में :

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्त्तिप्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ।।

'प्रभो-सर्वेश-सर्वाधार जगदीश्वर! मैं आपसे परमगति नहीं चाहता। अष्टसिद्धि या समस्त ऋद्धि भी मुझे नहीं चाहियें। हाँ, आप मुझे मुक्त करें, इसकी मुझे कोई कामना नहीं। आप मेरा निवास प्राणियों के हृदय में कर दें, जहाँ रहकर मैं उनके सब दुःख भोग लिया करूँ, जिससे सब प्राणी दुःखहीन हो जायँ।'

कितनी ऊँची भावना है यह! यह भक्ति की पराकाष्ठा है और निस्सन्देह सर्वोच्च भक्ति यही है। एक कवि की यह प्रार्थना कितनी मार्मिक है :

देव! मुझे ही सब दुख दे दे,
जग-जन सारे सुख पावें।
जो औरों के कलुष-भोग हों,
इस जन के ऊपर आवें।।

एक और भक्त इसी भाव को अपने शब्दों में इस प्रकार प्रकट करता है :

सफल जीवन हो, वर परमात्मन्! तुमसे जो यह पाऊँ,
पराई आग में कूदूँ, पराई मौत मर जाऊँ।
किसी के हित की ख़ातिर होवें गर इस जिस्म के टुकड़े,
खुशी से खेलते हँसते, मैं अपने तन को कटवाऊँ।।

क्या ऐसे भक्तों को भगवान् दुःख-सागर में पड़े रहने देता है? नहीं। गीता में स्पष्ट कहा है :

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।

'जो सब प्राणियों के हित में लगे रहते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।'

भारत का इतिहास ऐसे भक्तों की प्रेम-गाथाओं से भरा पड़ा है। सनातन वैदिक संस्कृति में यह एक ऐसी उच्चकोटि की भावना है, जिसकी उपमा और कहीं नहीं मिलती। दधीचि, भरत, भगीरथ, शिवि, रन्तिदेव, अम्बरीष, जनक, भीष्म, सती सावित्री, दुर्गा, लक्ष्मीबाई, पद्मिनी, श्री शङ्कराचार्य, कुमारिल भट्ट, गुरु गोविन्दसिंह, समर्थ रामदास, वीर वैरागी, महर्षि दयानन्द और कितने ही ऐसे भक्त हुए हैं, जिन्होंने मुक्ति की अपेक्षा जनता के कष्ट दूर करने और प्राणियों का सुधार और उद्धार करने के लिए अपने-आपको कष्ट और तप की भट्टी में डाला। स्वामी दयानन्द घोर तप करके प्रभु-भक्ति में पूर्ण होकर जब दुःखी, पीड़ित जनता को सन्मार्ग दिखलाने के लिए स्थान-स्थान पर भ्रमण करने लगे और अपनों ही से गालियाँ, अपमान लेने लगे तो उनके मित्र कैलाश आश्रम ने उनसे कहा—"दयानन्द! किस टण्टे में पड़ गये हो? आप तो योग तथा भक्ति की उस भूमि पर जा चढ़े थे, जहाँ आप जीवन-मुक्त हो जाते!" तब महर्षि ने कहा—"कैलाश! इन दुःखी जनों को दुःख-सागर में डूबा देखकर मैं अकेला मोक्ष नहीं चाहता। मेरा तो यही मोक्ष है कि मैं संसारी जीवों को सन्मार्ग पर ला सकूँ।"

पहले प्रभु की कृपा प्राप्त करो

इन भक्तों की गाथायें सुनते हुए एक आवश्यक बात सदा सामने रखना और वह यह कि ऐसा पद ग्रहण करने से पूर्व घोर तप, पूरी भक्ति और पूरी प्रभु-कृपा प्राप्त करने की अत्यन्त आवश्यकता है। इन सब देवताओं तथा देवियों ने ज्ञान, वैराग्य, अभ्यास, भक्ति द्वारा वह स्थिति प्राप्त की, जिससे प्रभु प्रसन्न हो गये, भगवान् की कृपा के पात्र बन गये और जब वर मिलने का समय आया तो इन भक्तों ने मोक्ष की ओर जाने की अपेक्षा पीड़ित संसार का उपकार करना ही अधिक प्रिय समझा।

अपने-आपको पहचाने बिना और फिर भगवान् के दर्शन पाये

बिना जो लोक-सेवा, देश-सेवा या परोपकार के काम में पड़ जाते हैं, वे दूसरों का दुःख तो क्या दूर करेंगे, स्वयं ही दुःखी हो जाते हैं। सूर्य दूसरों को ज्योति (प्रकाश, गर्मी) इसीलिए देता है कि वह स्वयं ज्योति, प्रकाश और गर्मी का पुञ्ज है। भला बुझा हुआ दीपक किसी दूसरे बुझे दीपक को कैसे प्रकाशित कर सकता है? पहले प्रभु-भक्ति द्वारा अपने अन्दर सामर्थ्य ले आयें, तभी इस उच्च कोटि की भक्ति के अधिकारी बन सकेंगे। सामाजिक उन्नति या परोपकार से पहले आत्मिक उन्नति का आदेश सबने दिया है और महर्षि स्वामी दयानन्द ने विशेष रूप से दिया है। स्वामी जी ने तो राजनैतिक क्षेत्र में कार्य करनेवालों, विधान-सभाओं, राज्य-परिषदों के मन्त्रियों, प्रधान-मन्त्रियों, सदस्यों, राज्य-कर्मचारियों, सबको योगाभ्यास नित्यप्रति करने की आज्ञा दी है। उन्हें इस आवश्यक बात का व्यक्तिगत अनुभव भी था कि प्रभु-भक्ति से आत्मदर्शन किये बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलती।

जब संवत् १९१४ (सन् १८५७) में स्वतन्त्रता का पहला युद्ध छिड़ा तो स्वामी जी उसकी सफलता देखकर मिर्ज़ापुर तथा काशी होते हुए मध्यप्रदेश के जंगलों में जा निकले। तीन-चार वर्ष नर्मदा नदी के तट पर रहनेवाले योगियों की संगति करते रहे, फिर बाद में संवत् १९७० में गुरुवर स्वामी विरजानन्द के पास पहुँचे। वैशाख १९२० तक गुरु से वेद-शिक्षा प्राप्त करते रहे। दक्षिणा देकर फिर प्रचार-हित निकल खड़े हुए। संवत् १९२४ में हरिद्वार का कुम्भ था। वहाँ पहुँचकर अपनी पताका गाड़ी, परन्तु देखा कि उनके सत्य-कथन की ओर कोई ध्यान नहीं देता। समझ गये कि अभी तपस्या में कोई त्रुटि है। तब एक दिन जब महाराज व्याख्यान दे रहे थे तो नेत्र जलपूर्ण हो गये, कण्ठ से आर्त्तनाद निकल पड़ा और "सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा" कहकर अपने सारे पुस्तक, बर्तन, पीताम्बरी धोतियाँ, रेशमी वस्त्र, दुशाले, नकदी, जो कुछ भी पल्ले था, सब-का-सब वहीं बाँट दिया; केवल एक कौपीन धारण करके ऋषिकेश पहुँचे और गंगा के किनारे-किनारे निकल खड़े हुए और सात वर्ष घोर तप करके, प्रभु-कृपा प्राप्त की;

समाधि-अवस्था में पहुँचकर आत्म-दर्शन पाये। तब गंगा-रज ही उनका बिस्तर था; गंगा के पत्थर ही सिरहाने का काम देते थे; पर्णकुटी या आकाश ही छत होता था। जब देखा कि भगवान् ने आशीर्वाद दे दिया है, वे चाहते तो तब मुक्त हो सकते थे, परन्तु संसार के दुःखी जनों का हित उन्हें कर्म-क्षेत्र में ले आया; अब उनके हृदय की जोत जग चुकी थी। आते ही स्वामी जी को सफलता मिलने लगी। इस व्यक्तिगत अनुभव के कारण ही महाराज ने सामाजिक उन्नति से पूर्व आत्मिक उन्नति करने का आदेश दिया है।

जिस भक्ति का ऊपर वर्णन हो रहा था, इसका स्वरूप तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक आत्म-दर्शन प्राप्त नहीं होते। परमात्मा की कृपा-दृष्टि के बिना आत्म-दर्शन असम्भव है।

शुकदेव जी ने यथार्थ कहा है :

अकामः सर्वकामी वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजते पुरुषं परम्॥
योगवा० स्क० २। ३। १०। १३॥

'अकाम हो, सकाम हो, मोक्ष की कामनावाला हो, बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि तीव्र भक्ति-योग द्वारा उस परम-पुरुष का ही भजन करे।'

एतावानेन यजतामहि निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतिः॥ १४॥

'साधकों के लिए परम कल्याण की बात यही है कि उनकी भगवान् में अचल भक्ति हो और भगवान् के भक्तों का उन्हें संग मिले।'

मेरी चाह

भक्ति के और भी कितने ही रूप हैं, सबका वर्णन यहाँ कठिन है। हाँ, एक और रूप का संकेत लाभदायक होगा।

यह भक्ति वह है जिसमें भक्त न मुक्ति की और न ही दुःखी जनों के दुःख-नाश की अभिलाषा रखता है, अपितु अपनी और संसारी जीवों की बागडोर भगवान् ही के अर्पण कर देता है। पर बिना इच्छा के तो कुछ होता नहीं। एक भक्त जब यह कहता है 'प्रभु, तेरी इच्छा

पूर्ण हो' तो यह भी तो एक इच्छा ही है। ऐसे भक्त की भी एक इच्छा अवश्य होती है और वह यह है :

प्रभु ! आपकी मैं हूँ शरण, निज चरण-सेवक कीजिये।
मैं कुछ नहीं हूँ मांगता, जो आप चाहें दीजिये।।
सिर आँख से मंजूर है, सुख दीजिये दुःख दीजिये।
जो होय इच्छा कीजिये, मत दूर दर से कीजिये।।

ऐसे भक्त की यह अभिलाषा अवश्य होती है कि भगवान् सदा मुझे अपने द्वार की चौखट पर पड़ा रहने दे। उसी प्रभु के द्वार पर पड़े-पड़े वर्षों बीत जायँ या जन्म, भक्त उसी की प्रेम-भक्ति में मग्न कभी रो दे, कभी हँस दे, कभी प्रभु-प्रेम के गीत गा दे, कभी चिन्तित होकर काँप उठे कि कहीं इस प्रभु-मिलाप की वाटिका में वियोग की आँधी न आ जाय ! ऐसी अवस्था में भक्त या साधक का चित्त भक्तिरस-सुधापान के योग्य हो जाता है, अन्य सारी वासनाएँ धुल जाती हैं। हृदय निर्मल होकर अब सर्वश्रेष्ठ भक्ति-सागर में सर्वथा डूब जाने के लिए लालायित हो जाता है। उस भक्त के अब प्राण नाच उठते हैं। उसे प्यारे प्रियतम का आशीर्वाद मिलता-सा अनुभव होने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् की ओर से यह आदेश पहुँचा है—'भक्त ! कहो, क्या चाहते हो ? जो इच्छा हो वैसा ही होगा।' यह भक्त उत्तर में तब कुछ कहना चाहता है परन्तु अश्रुसिक्त कण्ठ ने स्वर अस्पष्ट कर दिया है। प्रेम से भरपूर पवित्र हृदय ही ने आतुरता के साथ कहा :

मेरी चाही करन की, जो है तुम्हरी चाह।
तो तुम्हरी चाही करौं, यह है मेरी चाह।।
मेरी चाही हो वही, जो हो तुम्हरी चाह।
तुम्हरी अनचाही कभी, मत हो मेरी चाह।।
तुम्हरी चाही में प्रभो, है मेरा कल्याण।
मेरी चाही मत करो, मैं मूरख नादान।।

यह भावना प्रभु-कृपा प्राप्त करने का अमोघ साधन है। भक्तितत्त्व

से तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनने के लिए प्रेम-भरा पवित्र हृदय और अत्यन्त सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धि प्राप्त हो जाती है।

प्रभु-कृपा आवश्यक है

निष्कर्ष यह है कि प्रभु-कृपा को प्राप्त करने के लिए अपने-आपको परमात्मा के अर्पण कर देना आवश्यक है, क्योंकि प्रभु-कृपा के बिना मनुष्य तत्त्वज्ञान प्राप्त कर ही नहीं सकता। महर्षि दयानन्द ने लिखा है—"जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देनेवाला है।" महर्षि दयानन्द ने तो यह लिखा है कि जब तक परमेश्वर का अनुग्रह और आत्मा की शुद्धि नहीं होती, तब तक वेदों के अर्थ का भी यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। महर्षि ने यह भी उल्लेख किया है कि भक्त या साधक जब परमात्मा का ध्यान करता है तो प्रभु अपनी कृपा से उसकी बुद्धि को अपने में युक्त कर लेता है तथा वही परमात्मा अपनी कृपा से उन भक्तों के आत्मा में 'बृहज्ज्योति' (बड़े प्रकाश) को प्रकट करता है।

भक्त का यत्न यही होना चाहिये कि मैं प्रभु-कृपा का पात्र बन जाऊँ। प्रभु-कृपा का आशीर्वाद ही सब क्षेत्रों में विजय प्राप्त करायेगा। प्रभु-कृपा के बिना तो सारी विद्या, सारे पुरुषार्थ, सारे प्रयत्न निष्फल ही समझने चाहियें।

लाज तिहारे हाथ

पर सर्वसाधारण तथा गृहस्थी इस सीमा तक कैसे पहुँच सकते हैं? वे तो जीवन-यात्रा की एक-एक आवश्यकता को पूर्ण कराने के लिए अपने भगवान् ही को पुकारते हैं। महर्षि स्वामी दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में लिखा है :

"सबसे उत्तम मोक्ष-सुख से लेके अन्न-जल-पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये।"[1]

वेद में स्वयं भगवान् ने यह आज्ञा दी है—"जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं, वैसे ही मुझे पुकारो। मैं ही सारे जगत् का पिता हूँ। मैं

१. ईश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः।

ही सन्तान-जगत् का कारण और सब धनों का विजय करानेवाला हूँ और मैं ही दाता हूँ।"[1]

तब तुझ ही से भगवन् ! जीवन-यात्रा की सामग्री, अच्छा उत्तम राज्य, कल्याणकारी धन, स्वास्थ्य-प्रद अन्न तथा ऐश्वर्य के अतिरिक्त वह शान्ति माँगते हैं जो संसार में आप ही से प्राप्त हो सकती है। करुणा के सागर ! हम तुच्छ जीव हैं, अल्पज्ञ हैं, बुद्धि भी निर्बल है और यात्रा बड़ी कठिन है। आपकी सहाय और कृपा के बिना न तो संसारी कार्यों में सफलता मिल सकती है और न ही तेरे दर्शन की सामर्थ्य प्राप्त हो सकती है। हे दया के भण्डार ! हे दाता ! हमें दे वह ज्योति, वह प्रज्ञा, वह शक्ति, जिसे पाकर हम तेरी आज्ञा पालन कर सकें और तेरे समीप आ सकें। हे सूर्य के सदृश प्रकाशवान् प्रभो ! कितना भयंकर अन्धकार विषयों, प्रलोभनों, रोगों तथा चिन्ताओं की घनघोर घटाओं के कारण हमारे मार्ग में छा गया है ! कृपा-सागर ! थोड़ा-सा प्रकाश डालकर इन सबको छिन्न-भिन्न कर दीजिये। आप तो सर्व-शक्तियों और प्रकाशों के स्वामी हैं। महाराज ! ऐसी दया का हाथ सिर पर रखो कि ये सारे अन्धकार हमें सत्पथ से भटका न दें। हम तेरे ही दर की ओर बढ़ते चले जायँ और प्यारे ! आपके बिना यह कृपा और करेगा भी कौन ?

दर पर तेरे आन खड़े हैं, बने सवाली नाथ !
अपना और न कोई सहारा, लाज तिहारे हाथ ।।

ओ दाता ! तेरे-जैसे दयालु दाता से भिक्षा न मिली तो फिर हम तो तेरे दर पर पड़े भूखे ही मर जायेंगे। और तो कोई तेरे-जैसा दाता है नहीं। किसके दर पर जायें ? तू ही अपनी कृपा-दृष्टि से हमें तृप्त कर ! चाहते हैं तेरी करुणा, तेरी कृपा, तेरी दया। बस, इतनी-सी भीख मिल जाय तो फिर तेरा प्रेम हमें मिला ही है। तेरे एक कृपा-कटाक्ष से मिल जाता है उत्साह, साहस, धैर्य और कष्टों-क्लेशों की भड़कती ज्वालाओं में भी शान्त रहने का सामर्थ्य। प्रभो ! तब

---

१. ऋग्वेद मं० १०। सू० ४८। मन्त्र १।

सांसारिक चिन्ताएँ सता न सकेंगी। तब तेरा भक्त जान जाता है कि :

है तुझे बटोही चिन्ता किसकी, क्यों है भरमाया ?
जो मुर्झाया वह फूला, जो फूला वह मुर्झाया ॥

प्यारे ! फिर तेरे दर्शन भी सुलभ हो जाते हैं। तेरी कृपा-दृष्टि होते ही तेरा सुन्दर रूप संसार की हर वस्तु में चमकने लगता है। 'तू ही तू ...तू ही तू' की ध्वनि हर ओर सुनाई देने लगती है। ठीक ही तो है :

आँखों में तू है जिसके, दिल में ख़याल तेरा।
मुश्किल नहीं है उसको, होना विसाल[1] तेरा ॥
दिल का मेरे शिवाला, सब मन्दिरों से आला[2]।
देखा करूँ मैं इसमें, हरदम जमाल[3] तेरा ॥
लीला तेरी न जानीं, नारद-से देवता ने।
'आनन्द' चीज़ क्या है, जाने जो हाल तेरा ॥

जब अपनी अल्पज्ञता और प्रभु की सर्वज्ञता समझ ली, तब भगवान् अपने शरणागत की टेर सुनता है। साधक भी भक्त अमीचन्द जी के शब्दों में मस्त होकर गाता है :

जो हरि गीत प्रीति सँग गाये,
तिसके शोक निकट नहीं आये।
अमृतवत् तेरो चरित मनोहर,
मन की तपन बुझाये ॥
उधरे पतित अधम अति पापी,
जो तव शरण में आये।
हे प्रभु, हम अति दुखिया होकर,
तव शरणागत आये ॥
परम सुख-दाता ज्ञान-प्रदाता,
तैं वह नाम धराये।
माँग रहे द्वारे पर याचक,
अब क्यों देर लगाये ?

---

१. मिलाप। २. उत्तम। ३. सुन्दर रूप।

विषयन से उपराम रहूँ सदा,
भक्ति हृदय में भाये।
पढ़ सुन वेद वेदाङ्ग अमीचन्द,
संशय भरम मिटाये॥

सचमुच तब सारे भ्रम मिट जाते हैं, हृदय में प्रभु-प्रेम उमड़ पड़ता है और प्रभु की कृपा-दृष्टि पड़ते ही साधक कृत-कृत्य हो जाता है। भक्त जब किसी दुखिया को चिन्ता में ग्रस्त देखता है तो उसे सन्मार्ग दिखलाने के लिए श्री रणवीर जी के शब्दों में पुकार उठता है :

१. भरोसा कर तू ईश्वर पर, तुझे धोखा नहीं होगा।
ये जीवन बीत जायेगा, तुझे रोना नहीं होगा॥
२. कहीं सुख है कहीं दुख है, ये जीवन धूप-छाया है।
हँसी में हीं बिता डालो, बितानी ही ये माया है।
३. जो सुख आये तो हँस देना, जो दुख आये तो सह लेना।
न कहना कुछ कभी जग से, प्रभू ही से तू कह लेना॥
४. ये कुछ भी तो नहीं जग में, तेरे बस कर्म की माया।
तू खुद ही धूप में बैठा, लखे निज-रूप की छाया॥
५. कहाँ ये था ? कहाँ तू था ? कभी तो सोच ओ बन्दे !
झुकाकर सीस को कह दे, प्रभो वन्दे ! प्रभो वन्दे !!

भक्त के चिह्न

परमात्मा के अनन्य भक्तों में फिर कुछ विशेषताएँ आ जाती हैं और देखा जाता है कि उनकी जीवन-यात्रा का ढंग कुछ विलक्षण हो गया है।

प्रभु-भक्त—निर्लोभी होता है।
प्रभु-भक्त—निर्भय होता है।
प्रभु-भक्त—निरभिमानी होता है।
प्रभु-भक्त—निरहङ्कारी होता है।
प्रभु-भक्त—निर्मोही होता है।
प्रभु-भक्त—अदम्भी होता है।
प्रभु-भक्त—अक्रोधी होता है।

प्रभु-भक्त—अकामी होता है।
प्रभु-भक्त—परम प्रेमी होता है।
प्रभु-भक्त—हर हाल में खुशहाल होता है।
प्रभु-भक्त—सदा परोपकार में लगा रहता है।
प्रभु-भक्त—दया से भरपूर रहता है।

इसी प्रकार प्रभु-भक्त शान्त रहता है; भोग की चोट पड़ने पर घबराता नहीं; मन, वाणी और कर्म से किसी का अहित नहीं करता; समस्त जगत् को प्रभु का खेल समझकर उसी की महिमा देखता है और संसारी धन्धों ही में फँसे लोगों को सचेत करता हुआ कहता है :

बहुत गई थोड़ी है बाकी, अब तो अलख जगा बाबा!
थोड़े दिन का खेल-तमाशा, क्यों आसक्त बना बाबा?

जितने प्रकार की भक्ति का वर्णन यहाँ किया गया है, उनका तात्पर्य यही है कि प्रभु-कृपा प्राप्त हो सके। इनकी साधना करनेवाले साधक भक्त धन्य हैं :

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था, वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवितसुखसागरेऽस्मिन्, लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

'जिसका चित्त अपार विज्ञानानन्द-घन समुद्ररूप परब्रह्म परमात्मा में लीन हो गया है, उससे कुल पवित्र, माता कृतार्थ और पृथिवी पुण्यवती हो जाती है।'

: १० :

तत्त्वज्ञान क्या और कैसे ?

पिछले अध्यायों में जो कुछ वर्णन हुआ है उसका लक्ष्य एक ही है कि तत्त्व को किस प्रकार जाना जाय। शङ्कराचार्य जी ने जो मोक्ष के चार साधनों का, स्वामी दयानन्द जी ने जो मुक्ति तक पहुँचने के विशेष साधनों का वर्णन किया है, उनका उद्देश्य भी यही है; क्योंकि इन साधनों से सम्पन्न हुए बिना तो कोई अधिकारी बन ही नहीं सकता। भगवान् शङ्कराचार्य जी ने 'तत्त्वबोध' में कहा भी है :

"ततस्तत्त्वविवेकस्याधिकारिणो भवन्ति"

'इन साधनों की साधना के अनन्तर तत्त्व-विवेक में अधिकारी होते हैं।"

विवेकख्याति

'योग-दर्शन' के साधनपाद में स्पष्ट कहा है कि विवेकज्ञान की अवस्था तब आती है जब साधक विवेकख्याति की मंज़िल पर पहुँच जाता है। विवेकख्याति के क्षेत्र में पहुँचते ही बुद्धि निश्चल, निर्दोष और पवित्र होकर ऋतम्भरा हो जाती है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक जड़ तथा चेतन को सर्वथा पृथक्-पृथक् देख लेता है। साधक हृदय-प्रदेश में आत्म और अनात्म दोनों प्रकार के तत्त्वों को इस प्रकार पृथक्-पृथक् देखता है, जैसे आँखोंवाले पृथिवी से सूर्य को पृथक् देखते हैं। फिर साधक आत्मतत्त्व के ये दो भेद देखता है—एक ब्रह्म-तत्त्व और दूसरा जीव-तत्त्व। ये दोनों तत्त्व अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। 'योगदर्शन' के ऋषि अपना यह अनुभव बतलाते हैं कि यह विवेकख्याति अष्टाङ्ग योग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—के द्वारा ही प्राप्त होती है। वहीं पहुँचकर (पुरुष)

आत्मा और प्रकृति के संयोग का या जड़-चेतन की दृढ़ ग्रन्थि का नाश होता है। वह ग्रन्थि जब टूटती है तो जड़-चेतन एक-दूसरे से सर्वथा निखरे दिखाई देते हैं। साधक तब दुःखों से निवृत्त हो जाता है क्योंकि दुःखों का कारण जो त्रिगुणात्मक प्रकृति थी, उसको विवेक द्वारा अलग देख लिया जाता है।

यम और नियम की चट्टान पर

योग के इन आठों अङ्गों का बड़ी तीव्रता और सावधानी से अनुष्ठान करना होता है। यम-नियम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान—इन दश-के-दश यम-नियमों को अपने जीवन में ढालना होता है। मनु भगवान् का आदेश यह है कि "बुद्धिमान् को चाहिए कि यमों का लगातार सेवन करे, न केवल नियमों का। कारण है कि केवल नियमों का सेवन करनेवाला, यमों का पालन न करता हुआ पतित हो जाता है।" इन यम-नियमों की चट्टान पर ही शेष योग-अंगों का भवन खड़ा किया जा सकता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच यमों की सान पर जब साधक का जीवन चढ़ता है और इस सान से चमके हुए जीवन पर जब शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान की पालिश हो जाती है, तब उस जीवन में एक अद्भुत तथा दिव्य विद्युत् प्रकट होने लगती है जो उसके आसन को दृढ़ बना देती है; प्राणायाम के अनुकूल बना देती है। फिर साधक को अपनी इन्द्रियों पर अधिकार हो जाता है। साधक अपनी इन्द्रियों के रजोगुण तथा तमोगुण को परे हटाकर अपने सात्त्विक चित्त के साथ अन्दर ही ले आता है। प्रत्याहार की यह भूमि दृढ़ हो जाने पर फिर एक ही स्थान, प्रदेश, चिह्न या बिन्दु पर धारण करना सरल हो जाता है। एक-वृत्ति होकर एक ही विषय पर निरन्तर धारणा करने से ध्यान-अवस्था प्राप्त हो जाती है। यही ध्यान जब दीर्घकाल तक बना रहे तो यह समाधि में परिवर्तित हो जाता है। इसी अवस्था तक पहुँचने के लिए पिछले अध्यायों में कई प्रकार के साधन लिखे गये हैं।

तत्त्व क्या है ?

अब यह देखना है कि तत्त्व क्या है ? कितने ही तत्त्वों का तो पहले भी वर्णन हो चुका है और सृष्टि-क्रम भली प्रकार बुद्धि में बैठ जाय, इसका वर्णन पुनरुक्ति-दोष को जानते हुए भी बार-बार किया गया है। अब फिर भी किया जायेगा क्योंकि साधक ने समाधि-अवस्था में जाकर इन सारे तत्त्वों का साक्षात्कार करना है। साक्षात् ज्ञान प्राप्त करना ही 'जानना' है अन्यथा पुस्तकों और कथाओं में पढ़-सुन लेने से यह नहीं कहा जा सकता कि तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया। ध्यान-अवस्था, विवेक-ख्याति में पहुँचकर तत्त्वों का साक्षात् तभी होगा जब पहले इनका शाब्दिक ज्ञान प्राप्त कर लिया जायेगा।

कपिलमुनि-प्रणीत 'तत्त्व-समास', 'सांख्य-शास्त्र' तथा भगवान् शंकराचार्य के 'तत्त्वबोध' एवं वेद और गीता, योग-वासिष्ठ, भागवत तथा महर्षि दयानन्द-प्रणीत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थप्रकाश और अन्य योगियों द्वारा जो सृष्टि-विज्ञान, तत्त्व-व्याख्या और तत्त्वनिर्णय किया गया है, उनमें परस्पर कोई विशेष विरोध नहीं है। यदि कुछ है तो केवल शाब्दिक है, व्यवहार में तो सब एक ही प्रतीत होते हैं। प्रथम अनादि तत्त्व तो तीन हैं—(१) ब्रह्मतत्त्व, (२) आत्मतत्त्व, और (३) प्रकृतितत्त्व।

प्रकृति तीन गुणों वाली है—सत्त्व, रजस्, तमस्। तीनों गुण जब तक सम-अवस्था में रहते हैं तो महाप्रलय का काल होता है। इसी को महारात्रि, प्रकृति की निष्क्रिय अवस्था भी कहते हैं। परमात्मा जब अपनी सामर्थ्य से प्रकृति को गति देते हैं तो इसके गुणों में विषमता आ जाती है। प्रकृति जो रूप धारण करती है वह यह है :

आठ प्रकृतियाँ—अव्यक्त, महत्, अहंकार, पाँच तन्मात्र। षोडश विकार—पाँच महाभूत, ग्यारह इन्द्रियाँ। इस प्रकाश अव्यक्त, महत्, अहंकार, शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र, गन्ध-तन्मात्र, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, त्वक्, नेत्र, कर्ण, घ्राण, रसना, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा तथा मन, ये चौबीस तत्त्व हैं।

ये सारे-के-सारे तत्त्व जड़ हैं। इन सबके अतिरिक्त एक पच्चीसवाँ

तत्त्व है। अभी जो तत्त्व लिखे हैं, ये वास्तव में एक ही अव्यक्त प्रकृति के रूपान्तर हैं। प्रकृति में जब विकृति आई तो अव्यक्त को छोड़कर २३ तत्त्व प्रकट हुए और चूंकि ये जड़ हैं, ये स्वयं तो कुछ भी नहीं कर सकते, अतएव पच्चीसवें तत्त्व आत्मा का इनसे संयोग हुआ और सृष्टि दृष्टिगोचर होने लगी। अब ये २५ तत्त्व हो गये।

प्रकृति में भगवान् की सामर्थ्य से जब गति होती है तो उस समय प्रकृति द्रवावस्था में आने लगती है। इसी अवस्था को वेद ने 'समुद्रो अर्णवः' (लहराता हुआ समुद्र) कहा है। यह लहराता हुआ समुद्र पूरी गति में पता नहीं कितने दीर्घकाल तक रहा और उस घड़ी तक भयंकर गति में रहा जब तक गति करते-करते यह एक स्थूल पिण्ड नहीं बन गया। वेद की भाषा में इस समय को 'संवत्सर' कहा गया है। इसी संवत्सर (Cyclic motion) में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी इत्यादि स्थूल लोक-परलोक भी बने। यह तो प्रलय से सृष्टि तक का साधारण विज्ञान है। विशेष यह है कि जब प्रकृति में प्रभु-सामर्थ्य से गति हुई तो उस अव्यक्त नित्य पदार्थ में महत्-अवस्था आ गई। यह महत्-अवस्था भी है तो सूक्ष्म-अवस्था ही, परन्तु प्रकृति की अपेक्षा कम सूक्ष्म है। यह महत् क्या है? इसे समष्टि बुद्धि का भी नाम दिया जाता है। जो तत्त्व मनुष्य में बुद्धि कहलाता है, वही तत्त्व समष्टि-संसार में महत् कहलाता है। यह समष्टि बुद्धि जब और अधिक गति में आती है और सूक्ष्मता कुछ कम होने लगती है तो उस अवस्था को 'अहंकार' कहते हैं। अहंकार का अर्थ है—अभिमान। जब यह भावना होती है कि 'यह कार्य मैंने किया'—'मैं-पन' आने की अवस्था का ही नाम अहंकार है।

यह सदा स्मरण रखना आवश्यक है कि जिस प्रकृति को गति दी गई थी, वह सत्त्व, रजस्, तमस् गुणवाली है। ये तीनों गुण प्रकृति तथा इससे बननेवाले सारे तत्त्वों और पदार्थों में सर्वदा विद्यमान रहेंगे।

अहंकार में भी ये तीनों गुण मौजूद हैं। अब क्या होता है कि अहंकार से पाँच भूत, पाँच सूक्ष्म शक्तियाँ तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं—

(१) शब्द तन्मात्र, (२) स्पर्श तन्मात्र, (३) रूप तन्मात्र, (४) रस-तन्मात्र, और (५) गन्ध तन्मात्र।

इन पाँचों से क्रमशः पाँच स्थूल भूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी) उत्पन्न हुए। फिर इन्हीं पाँच भूतों से नाना प्रकार की सृष्टि हुई।

दूसरी ओर अहंकार ही से ग्यारह इन्द्रिय उत्पन्न हुए और जब यह सारा साज सज गया तो जीवात्मा को उसके पूर्वले कर्मानुसार बुद्धि, अहंकार, मन तथा ५ ज्ञानेन्द्रियाँ और ५ कर्मेन्द्रियाँ—ये १३ कारण दे दिये गये। इन १३ कारणों में १० इन्द्रियाँ तो गौण हैं और बुद्धि, अहंकार तथा मन प्रधान साधन हैं। इनमें से भी बुद्धि सबसे प्रधान है।

संसार की यह सारी रचना—एक प्रकृति का २४ रूप धारण कर लेना, फिर तीन गुणों के कारण अनेक रूप प्राप्त कर लेना, नाना प्रकार की सृष्टियाँ, नाना प्रकार की योनियाँ और नाना प्रकार के ही स्वभावों का होना—यह सारा प्रपंच केवल इसलिए है, ताकि मनुष्य भोग तथा अपवर्ग को प्राप्त कर ले। इसीलिए 'अव्यक्त' के तीन धर्म हैं—एकत्व, अर्थवत्व और परार्थ्य। एकत्व—यह एक ही है। अर्थवत्व—प्रयोजनवाली है; पुरुष को भोग और अपवर्ग देना ही इसका प्रयोजन है। परार्थ्य यानि, पर+अर्थ=दूसरों के लिए कार्य करनेवाली है, अपने लिए नहीं।

तीन बन्ध और उनसे छूटने का उपाय

जब पुरुष-आत्मा इन विकारों के साथ संयुक्त हुआ तो तीन प्रकार के इसने कर्म शुरू किये। वे ही कर्म इसके लिए प्रबन्ध बन गये जो ये हैं:

दाक्षणिक, वैकारिक और प्राकृतिक बन्ध।

दाक्षणिक बन्ध यह है कि फल की कामना करते हुए इष्टपूर्त्त कर्मों में प्रवृत्ति होना। वे फिर जन्म लेंगे, मुक्त नहीं होंगे।

वैकारिक बन्ध यह है कि जो मन तथा इन्द्रियों (जो विकार ही हैं) ही की उपासना करके इनका साक्षात् करते हैं, वे भी इन्हीं में

लीन रहकर फिर जन्म धारते हैं।

प्राकृतिक बन्ध यह है कि जो पूर्वोक्त विचारों से आगे पहुँचकर आठ प्रकृतियों ही का साक्षात् कर रहे हैं, वे भी अपनी वासना के अनुसार फिर जन्म लेते हैं।

साधक ने इन तीनों प्रकार के बन्धनों से छूटना है। वह कैसे?

दाक्षणिक बन्ध से छूटने का उपाय निष्काम भाव से कर्म करना है। शेष दो बन्धन इस प्रकार से छूटते हैं कि जब साधक विकृति-प्रकृति से परे चित्त को ले-जाकर अपने स्वरूप में स्थिति-लाभ करता है तभी छुटकारा मिलता है।

पाँच क्लेशों का घेरा

जब आत्मा का इन जड़ तत्त्वों से सम्बन्ध हुआ तो समष्टि में जो महत् बना वही पुरुष में बुद्धि बना। तभी प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान, ये पाँच वायु कार्य करने लगे और तभी निम्न पाँच प्रकार की अविद्या ने आ घेरा—(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष, और (५) अभिनिवेश। मनुष्य जब अपने शरीर में आत्म-बुद्धि कर लेता है तो यह 'अविद्या' कहलाती है। अपनी बुद्धि ही को आत्मा समझ लेना 'अस्मिता' कहलाता है। मेरे पास ये-ये पदार्थ हो जायँ—यह लोभ की वृत्ति 'राग' है। ये पदार्थ दूर हो जायँ—इस घृणा की वृत्ति को 'द्वेष' कहते हैं। मैं सदा बना रहूँ, मृत्यु का ग्रास न बनूँ—यह वृत्ति 'अभिनिवेश' कहलाती है। इस पाँच प्रकार की अविद्या ने पुरुष को दृढ़ जाल में फँसा रखा है।

बुद्धि के आठ रूप

यह तथ्य भी हृदयंगम करने योग्य है कि जब पुरुष बुद्धि ही को आत्मा समझ लेता है, तभी यह कह सकता है—मैं दुःखी हूँ, मैं मूढ़ हूँ, मैं शान्त हूँ, सुखी हूँ। बुद्धि के आठ रूप और तीन वृत्तियाँ हैं:

धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये बुद्धि के आठ रूप हैं। तीन वृत्तियाँ ये है—शान्त, घोर, मूढ़।

ये सारे रूप सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों के अनुसार कार्य करते हैं। ये सारे रूप और वृत्तियाँ बुद्धि में विद्यमान तो रहती हैं

परन्तु जब एक रूप प्रधान होता है तो विरोधी रूप तथा वृत्ति दबी रहती है। साधक ने यह प्रयत्न करना है कि अच्छे रूप उभरे रहें और बुरे रूप दबे रहें। बुद्धि में जब सत्त्व बढ़ता है, रमस्-तमस् दब जाते हैं तो पुरुष **धर्म** (दान, दया, यम-नियम) के पालन में प्रवृत्त होता है। **ज्ञान** अर्थात् प्रकृति वा आत्मा का तत्त्वज्ञान लाभ करता है। **वैराग्य** अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होकर, सारी वासनाओं से पृथक् होकर वशीकरण वैराग्य में पहुँच जाता है। **ऐश्वर्य** अर्थात् तत्त्वज्ञान के मार्ग पर चलते हुए मन की प्रसन्नता, सत्य संकल्प हो जाता और अद्भुत मस्ती प्राप्त हो जाती है। ये बुद्धि के चार सात्त्विक रूप हैं। इनके विपरीत चार तामस रूप हैं, साधक को इन चारों तामस रूपों से बचकर आगे बढ़ना है।

तीन शरीर

आपको जो स्थूल शरीर दिखलाई दे रहा है, इसके अतिरिक्त इसके अन्दर दो और शरीर हैं। स्थूल शरीर—पुञ्जीकृत पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, पाँचों भूतों से कर्मानुसार बना है और सुख-दु:ख भोगने का प्रधान साधन है। यह उत्पन्न होता है, बढ़ता है, घटता है, रोगी होता है और नाश को प्राप्त होता है। इसके अन्दर पाँच कोश हैं, पाँच प्राण हैं, ११ इन्द्रियाँ हैं, आत्मा इन सबका संघचालक है। इसमें यदि तत्त्वगुण प्रधान हो तो यह सुखस्वरूप हो जाता है—अङ्ग हल्के हो जाते हैं, इन्द्रियों को प्रसन्नता होती है, बुद्धि निर्मल होकर प्रकाशवाली हो जाती है। यदि शरीर में रजोगुण प्रधान हो तो दु:ख-स्वरूप हो जाता है—उत्तेजना, चंचलता बढ जाती है, टिककर एक ही काम की ओर चित्त नहीं लगता। तमोगुण यदि प्रधान हो तो मोहस्वरूप हो जाता है—शरीर भारी होता है, इन्द्रियाँ शीघ्रता से काम नहीं करतीं, भजन और सत्संग में निद्रा आ घेरती है।

इस स्थूल शरीर में जिन पाँच कोशों का संकेत हुआ है, उसकी व्याख्या यह है—(१) अन्नमय कोष जो अन्न से सन्तुष्ट होता है और सारे कोषों का आधार है। (२) प्राणमयकोश पाँच प्राण और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं; यह कोश 'क्रिया-शक्ति' का है। (३) मनोमयकोश

मन तथा श्रोत्र, घ्राण, चक्षु, जिह्वा और त्वक्, इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के मिलने से बनता है। 'इच्छा-शक्ति' का यही केन्द्र है। (४) विज्ञान-मय कोश बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के मिलने से जो प्रकाश उत्पन्न होता है, उसे 'ज्ञान-शक्ति' कहते हैं। (५) इन सबसे परे जहाँ आनन्द की मात्रा बढ़ती है, वह आनन्दमय कोश है। तब क्रिया-शक्ति, इच्छा-शक्ति, तथा ज्ञान-शक्ति शान्त हो जाती हैं। आत्मा इन सब कोशों से पृथक् है !

सूक्ष्म शरीर

स्थूल शरीर में एक सूक्ष्म शरीर है जो जन्म-जन्मांतरों से हमारे साथ है। स्थूल शरीर तो एक ही जन्म का साथी है। यह सूक्ष्म शरीर तब से है जब से शरीर तथा आत्मा का सम्बन्ध होने लगा। यह सूक्ष्म शरीर तब तक साथ देगा जब तक मोक्ष नहीं हो जाता। योगी लोग इसी सूक्ष्म शरीर द्वारा पिछले जन्मों की बातें जान लेते हैं। यह पंच तन्मात्र से बना है; सुख-दुःख भोगने का साधन है। इसमें ये पदार्थ हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय—त्वक्, नेत्र, कर्ण, घ्राण, रसना; पाँच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान; पाँच तन्मात्र और मन तथा बुद्धि। यहाँ भी आत्मा पृथक् है।

इसी सूक्ष्म शरीर में जन्मान्तर के कर्मों की वासनाएँ रेखारूप में रहती हैं। इसी शरीर के सहारे अपने कर्मानुसार आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों में पहुँचाया जाता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म है, इतना सूक्ष्म कि यह उन जीवों के स्थूल शरीर में भी होता है, जिनके स्थूल शरीर सूक्ष्म-वीक्षण (खुर्दबीन) के बिना देखे नहीं जा सकते। जब किसी की मृत्यु होती है तो उसका सूक्ष्म शरीर अन्दर की सारी सूक्ष्म शक्तियों और इन्द्रियों के सूक्ष्म भोगों को एकत्र करके अपने साथ ले जाता है। हम इस जीवन में जो कुछ भी कार्य करते रहे हैं, धर्म या अधर्म, भक्ति या मुक्ति, वैराग्य या अवैराग्य, ऐश्वर्य या अनैश्वर्य, इन सारे कर्मों के अत्यन्त सूक्ष्म संस्कार इसी सूक्ष्म शरीर में होते हैं। यूँ समझ लीजिये कि यह 'स्थूल देहधारी आत्मा' का रिकॉर्ड-कीपर (Record-keeper) है। जैसी फ़ाइल या मिसल हमने यहाँ तैयार की है, उसी के अनुसार

आत्मा इस सूक्ष्म शरीर के द्वारा मोक्ष में या अन्य योनियों में भेज दिया जाता है। हमारा एक-एक संकल्प, एक-एक विचार, एक-एक कर्म, एक-एक हाव-भाव, वैसा-का-वैसा इस सूक्ष्म शरीर के चित्त पर अंकित होता है। स्थूल शरीर को आत्मघात अथवा अन्य साधनों से नष्ट किया जा सकता है परन्तु संसार के किसी वैज्ञानिक ने अभी तक कोई ऐसा आविष्कार नहीं किया, जिसके द्वारा इस सूक्ष्म शरीर से छुटकारा मिल सके।

यही सूक्ष्म शरीर भिन्न-भिन्न योनियों में मानव-आत्मा को कर्मानुसार लिये फिरता है। 'अथर्ववेद' काण्ड ५ के पहले सूक्त का दूसरा मन्त्र देखिये :

ओं आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र की यह व्याख्या की है :

"जो मनुष्य पूर्व-जन्म में धर्माचरण करता है, उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। जो पूर्व-जन्म में किये हुए पाप-पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभाव से युक्त आत्मा है, वह पूर्व-शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है, पुनः जल, ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करता है, तदनन्तर गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है। जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्य भाषण करने की आज्ञा दी है, वैसा ही यथावत् जानके बोलता है और धर्म में ही यथावत् स्थिर रहता है, वह मनुष्य-योनि उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है; और जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट, पतङ्ग, पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है।"

इसका साधन सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर को अत्यन्त पवित्र बनाने की आवश्यकता है। इसे वासनारहित किये बिना छुटकारा नहीं।

'निरुक्त' में उल्लेख है :

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै॥
आहारा विविधाभुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा॥
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः॥

'मैंने अनेक बार जन्म-मरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार की सहस्रों योनियों का सेवन किया। अनेक प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया, अनेक माता-पिता और सुहृदयों को देखा। मैंने गर्भ में नीचे मुख, ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके जन्म धारण किये। किन्तु अब महादुःखों से तभी छूटूँगा कि जब परमेश्वर में प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूँगा, नहीं तो इस जन्म-मरणरूप दुःख-सागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता।'

परमात्मा की आवाज सुनो !

हमें सूक्ष्म शरीर की ओर अधिक ध्यान देना होगा। पर हम तो फटे पाजामे की अधिक चिंता करते हैं और फटे दिल तथा कलुषित सूक्ष्म शरीर के सुधार का विचार कुछ भी नहीं करते। तब छुटकारा कैसे होगा ? सावधान होकर सूक्ष्म शरीर को पवित्र बनाना अनिवार्य है।

परमात्मा तो सर्वदा मानव का पथ-प्रदर्शन करता रहता है, हम ही अज्ञानी बनकर उसका आदेश नहीं सुनते। महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के सप्तम समुल्लास में स्पष्ट लिखा है कि परमेश्वर मनुष्य को मार्ग दिखाता रहता है। महर्षि के ये वचन ध्यान से पढ़िये :

"जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय, जीव की इच्छा-ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कर्मों के करने में

अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है।"

यह सारी क्रिया इस सूक्ष्म शरीर ही में होती है। मनुष्य यदि परमात्मा के इस आदेश को (जो उसी क्षण होता है जब कोई अच्छा या बुरा सङ्कल्प अथवा कार्य करने को तैयार होता है) सुन लै और अपनी इच्छा और सङ्कल्प छोड़कर परमात्मा की आज्ञा का पालन करे तो सूक्ष्म शरीर शुद्ध-निर्मल बनकर मनुष्य के स्थूल शरीर को भी पवित्र बना देता है। साधक को पूरे ध्यान से परमात्मा की आवाज़ सुनने का अभ्यास करना चाहिये।

कारण शरीर

तीसरे शरीर का नाम कारण शरीर है। प्रकृति जब विकृत होती है तो हरएक जीवात्मा को इसी प्रकृति का एक अत्यन्त सूक्ष्म भाग मिल जाता है। यह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है। आत्मा इन तीन शरीरों से अलग है। मनुष्य जब सुषुप्ति-अवस्था में आ जाता है तो उस समय केवल कारण शरीर में कार्य होता है।

जीवात्मा क्या है ?

जब आत्मा इन तीनों शरीरों से पृथक् है तो फिर वह क्या है ? यह प्रश्न स्वयमेव सामने आ जाता है। यह कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर किसके लिए बनाये गये हैं ? जब चारपाई वा पलँग बनाने के लिए पाये, बाहु, सेरु, रस्सी या निवार एकत्र किये जाते हैं और जब चारपाई तैयार हो जाती है तो यह किसी के लिए होती है। इसी प्रकार यह शरीर का संघात भी किसी के लिए होता है। संघात बिना प्रयोजन के नहीं। अब जिसके लिए यह शरीर बना, उसीको जीवात्मा कहते हैं। यह जीवात्मा सत्-चित् है। जगत् के भोग भोगने के और दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति करके मोक्ष प्राप्त करने के लिए मानव-शरीर के साथ इसका सम्बन्ध होता है। इस आत्मा का अपना निज-रूप कभी बिगड़ता नहीं, सदा एकरस रहता है, ज्ञानवान् है। जड़रूप प्रकृति के बने २४ तत्त्वों के साथ मिलकर जब यह आत्मा इन्हीं तत्त्वों

में से ही किसी जड़ तत्त्व में आत्म-बुद्धि कर लेता है, तब दुःखी होता है। चारपाई पर लेटा हुआ एक मनुष्य यदि यह कहने लग जाय कि मैं चारपाई हूँ, तो बुद्धिमान् उसपर हँसेंगे। ऐसे ही जो मनुष्य यह कहने लगे कि मैं शरीर हूँ, तो उसे बुद्धिमान् क्या कहेंगे? शरीर के साथ सम्बन्धित आत्मा सुखी भी होता है, दुःखी भी; हँसता भी है और रोता भी है; स्वस्थ भी होता है और रोगी भी। परन्तु जब जीवात्मा ध्यान-अवस्था में पहुँचकर प्रत्यक्ष देख लेता है कि मैं तो प्रकृति और प्रकृति से बने सारे तत्त्वों तथा पदार्थों से सर्वथा पृथक् हूँ, तब वह इस भ्रमजाल से निकल जाता है; नित्य नये रूप बदलने-वाली प्रकृति से उसे घृणा होने लगती है और उस आनन्दधाम की ओर वह बढ़ता है जो कभी दुःखी नहीं होता; सारे पापों, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, क्षुधा, पिपासा से जो सदा रहित है; सत्यकाम है, सत्यसंकल्प है और एक-मात्र अटल आश्रय है। जीवात्मा ने यही पुरुषार्थ करना है कि वह जड़ प्रकृति के तत्त्वों की वास्तविकता को पहचानकर और इससे ऊपर उठकर सत्, चित्, आनन्द-तत्त्व से मिलाप कर ले।

ब्रह्मतत्त्व

ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द है। इसी के साथ मित्रता प्राप्त करके जीवात्मा जो सत्-चित् है, आनन्द को पाता है। इसी तत्त्व की खोज करनी है, इसी को जानना है और इसी से जीवात्मा ने मैत्री करनी है, यतः शरीर तो मरणधर्मा है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा है कि यह स्थूल शरीर ऐसा है, जैसे सिंह के मुख में बकरी। ऐसे ही यह शरीर मृत्यु के मुख में पड़ा है। यही मरणधर्मा शरीर, शरीररहित जीवात्मा का निवासस्थान है। इसीलिए यह जीव सुख-दुःख से सदा ग्रस्त रहता है। इसे पूर्ण-आनन्द तब होगा, जब यह आनन्दस्वरूप परमात्मा के साथ मिलेगा। उसके साथ संयोग हो जाने से फिर सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श भी नहीं होता। अब जीवात्मा के लिए सदा के आनन्द का भण्डार खुल जाता है। इसी ब्रह्म-तत्त्व की सामर्थ्य से प्रकृति में गति होती है और प्रकृति जीवात्मा के हित के लिए प्रभु-आज्ञा के

अनुसार विकृत होकर नाना रूप धारण कर लेती है। ब्रह्मतत्त्व केवल तार छेड़ देता है और जीवात्मा और प्रकृति के २४ तत्त्व खेल खेलने लगते हैं। वह ब्रह्मतत्त्व केवल द्रष्टा बना रहता है; सारे संसार को घुमाता है और आप स्थिर रहता है। संसार का सबसे बड़ा कोष—आनन्द, इसने अपने पास रंखा हुआ है। यह ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र व्यापक है। इसका गुण 'आनन्द' भी सर्वत्र है परन्तु प्रकृति के बने सारे पदार्थों में इस आनन्द की केवल छाया है। प्रकृति-जन्य तत्त्वों से मिला जीवात्मा भ्रम से, अज्ञान से यह समझ लेता है कि प्रकृति के तत्त्वों में आनन्द है। छाया को वह वास्तविक वस्तु समझ लेता हैं तो उसके पीछे दुःखी होता है। यह दुःख तभी दूर होता है जब वह इस भ्रम से निकलकर आनन्द के स्रोत ब्रह्मतत्त्व की ओर जाता है।

आत्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व का मिलाप तत्त्वज्ञान का फल है, पर अनुभवी महानुभावों का यह निश्चित मत है कि पंच भूतों के विवेक ही से उस सत्य अद्वैत आत्मा को जाना जा सकता है। और पंच भूत क्या हैं? नाशवान्, अस्थिर, जो प्रकृति से बिगड़कर बन गये। इन बिगड़े हुए विकारी भूतों का यही जानना है कि इनकी अपनी निजी सत्ता कुछ नहीं। ये पहले भी नहीं थे और अन्त में भी नहीं रहेंगे। ये मेरे कल्याण के लिए भेजे गये हैं। ये मेरे दास हैं, मैं इनका दास नहीं। फिर ये नाशवान् हैं, मैं सदा रहनेवाला हूँ। ये जड़ हैं, ज्ञानशून्य हैं; मैं चेतन हूँ और ज्ञानवान्। मैं इनके जाल में क्यों फँसा रहूँ?

आनन्द की सम्पत्ति ब्रह्मतत्त्व के पास

मैं तो आत्मा हूँ। ठीक है कि अल्पज्ञ हूँ, शरीर में बन्दी हूँ, दुःख भोग रहा हूँ और आनन्द की खोज में हूँ, परन्तु हूँ तो आत्मा। मेरा सहयोगी परमात्मा ही है। परमात्मा और जीवात्मा एक ही परिवार के हैं। दोनों ही बड़े ऊँचे घराने के हैं। जीवात्मा के लिए उचित है कि वह अपने साथी चेतन-तत्त्व के साथ मिले। उसकी शोभा इसी में है कि अपने-जैसी पोज़ीशनवाले की मित्रता प्राप्त करे। पंच भूतों के पास तो क्या, उनकी माता प्रकृति के पास भी आनन्द नहीं। आनन्द है केवल ब्रह्मतत्व के पास। उसी की मित्रता से यह सम्पत्ति प्राप्त हो

सकती है; और किसी भी प्रकार से नहीं। विवेकख्याति की सामर्थ्य जब तक प्रभु-कृपा से साधक को प्राप्त नहीं होती, तब तक इस साक्षात् ज्ञान का प्रसाद नहीं मिलता। इसलिए जब तक वह स्थिति न आये, तब तक प्रभु-भजन, सत्संग, स्वाध्याय तथा प्रतिदिन के कार्यों के निरीक्षण से पंच भूतों के तत्त्वों की वास्तविकता को देखते रहना चाहिए और बुद्धि-पूर्वक सांसारिक कार्य करते हुए इनसे अलिप्त रहने का यत्न करना चाहिए।

यह तो बतलाया ही जा चुका है कि प्रभु-सामर्थ्य से प्रकृति में जब गति हुई तो महत् प्रकट हुआ, फिर अहंकार हुआ, तब पाँच भूतों की अत्यन्त सूक्ष्म शक्तियाँ उत्पन्न हुई, जिनको पंच तन्मात्रा भी कहा जाता है; फिर स्थूल भूत हुए। इन पंच भूतों ही का सारा संसार है और इन्हीं का संघात यह शरीर है।

'पंचदशी' में कहा है कि :

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत् पंचभूतविवेकतः।
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपंचकं प्रविविच्यते ॥

'श्रुतियों में जिस सत् अद्वैत का प्रतिपादन किया गया है उसको पंच-भूत-विवेक से ही जान सकते हैं। इससे अब पाँचों भूतों का विवेचन किया जाता है।'

पंच भूतों की माया

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये सब आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी इन पाँचों भूतों के गुण हैं। इन पाँचों भूतों के ये पाँच गुण जब तीन गुणों सत्-रजस्-तमस् से मिलते हैं तो नाना प्रकार के हो जाते हैं। साधक ने यह यत्न करना है कि इन पाँचों भूतों और इनके गुणों पर दृष्टि रखकर सत्त्व की ओर जाना है, परन्तु यह सरल कार्य नहीं है। अनुभव में यह आया है कि पंच भूतों की माया इतनी विचित्र और अद्भुत है कि इनका ज्ञान प्राप्त करने के यत्न प्रारम्भ होते हैं तो यह माया अपने अनेक रूप, प्रलोभन, चमत्कार दिखलाकर ज्ञान प्राप्त करनेवाले ही को अपने वश में करना चाहती है। जीव उन प्रलोभनों में फँसकर तदनुकूल कर्म करने लगता है। नाना दुःखों की सृष्टि सामने

आ जाती है। भगवान् राम ने संसार के जिन दु:खों का वर्णन किया है वे इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। इन दु:खों को जीव स्वयं ही उत्पन्न करता है और फिर स्वयं ही उनसे दु:खी होकर पुकारता भी है।

तीन प्रकार के दु:ख

संसार में दु:खों की गणना कठिन है परन्तु उनके तीन विभाग किये जा सकते हैं—(१) आध्यात्मिक, (२) आधिभौतिक, और (३) आधिदैविक। १. आध्यात्मिक दु:ख—रोगादि द्वारा, चोट इत्यादि से शरीर में उत्पन्न होनेवाला और काम-क्रोधादि से मन में पैदा होनेवाला दु:ख। २. आधिभौतिक—विषैले जीव-जन्तुओं या व्याघ्रादि से उत्पन्न दु:ख। ३. आधिदैविक—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, नदियों इत्यादि से उत्पन्न दु:ख। इन तीन प्रकार के दु:खों से जीव पीड़ित होते हैं और चाहते हैं कि किसी प्रकार इनसे छुटकारा मिल जाय।

एक भूख का दु:ख ही अभी तक नहीं मिटा

भूख और प्यास भी एक दु:ख है। इसी एक दु:ख को दूर करने के लिए आप ज़रा दृष्टि-विस्तार करें तो यही कहेंगे कि केवल इसी एक दु:ख ही का अन्त नहीं होता। भूमि को उपजाऊ बनाने से लेकर अन्न को घर में लाने तक कितना परिश्रम, कितनी चिंता और कितना कष्ट सहन करना पड़ता है? सारा संसार इसी धन्धे में तो लगा है। परन्तु इतने परिश्रम के पश्चात् परिणाम यह कि प्रात: खाओ तो सायं को आकर भूख फिर दु:खी कर देती है, सायं को खाओ तो प्रात:काल फिर खाने ही का प्रबन्ध करना पड़ता है। यह क्रम जन्म-जन्मान्तर से चल रहा है। युग व्यतीत हो गये, सृष्टियाँ बनीं और बिगड़ीं, परन्तु अभी तक भूख के दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति का कोई भौतिक साधन मनुष्य को प्राप्त नहीं हुआ। शेष जो अनेक दु:ख हैं, उनमें से एक दु:ख को दूर करने का यत्न करते-करते दूसरा, तीसरा, चौथा दु:ख सामने आता जाता है। मनुष्य समझता है कि मेरी यह चिन्ता दूर हो जाय तो फिर मैं निश्चिन्त हो जाऊँगा, परन्तु पहली चिन्ता दूर होती है तो दो और आ घेरती हैं। कई महानुभावों को यह कथन करते सुना

है कि मेरा पिछला घाटा पूरा हो गया तो मैं सुखी हो जाऊँगा। मेरी कन्याओं का अच्छे परिवारों में विवाह हो गया तो फिर मैं सुखी हो जाऊँगा। फिर भी ऐसे लोगों को कभी यह अवसर नहीं मिला कि वे यह कह सकें—अब वे सुखी हो गए हैं।

भारतवासी दुःखी-के-दुःखी

भारतवासी विदेशी राज्य में कहते थे कि इस अंग्रेज़ से पीछा छूट जाय, हमें स्वराज्य मिल जाय तो हम सुखी हो जायेंगे। अंग्रेज़ के चले जाने के पश्चात् भारतवासियों ने देखा कि कितनी ही और समस्याएँ सामने उपस्थित हो गईं जिन्होंने भारत को अधिक दुःखी कर दिया। यह जीवन-यात्रा तो पर्वत-यात्रा की तरह है। हिमालय पर्वत का यात्री एक घाटी पर चढ़ रहा है। श्वास फूल रहा है, फिर भी चल रहा है कि बस, इस घाटी के शिखर पर अब पहुँचने ही वाले हैं, तब कष्ट समाप्त हो जायेगा। पर शिखर पर पहुँचते ही सामने और शिखर दृष्टिगोचर होने लगता है। क्या इसके ऊपर भी जाना होगा? हाँ, यात्रा अभी समाप्त तो नहीं हुई। अगले शिखर के पश्चात् पुनः और पर्वत, पुनः और शिखर। इसी प्रकार जीवन-यात्रा में एक चिन्ता, एक आवश्यकता, एक दुःख दूर हुआ और दूसरा सामने आ खड़ा हुआ।

किसी प्रकार के भी दुःख की पूर्णतया निवृत्ति नहीं होती। आत्मा नहीं चाहता कि दुःख आये, परन्तु आ ही जाते हैं। जीव दुःखों के कारण पाप को भी करना नहीं चाहता, परन्तु हो ही जाते हैं। यह बात 'महाभारत' में दुर्योधन कह रहा है :

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

'मैं धर्म को खूब पहचानता हूँ पर धर्म में मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अधर्म को भी भली प्रकार जानता हूँ पर मैं उससे बच नहीं सकता। वास्तव में बात तो यह है कि कोई देवता मेरे हृदय में मेरा मालिक बना बैठा है। वह जैसा चाहता है, वैसा मुझे नाच नचाता है।'

वेद भगवान् में भी भक्त शिकायत करता है :

ओं वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वी३दं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥

ऋ० ६ । ९ । ६ ॥

'मेरे कान विरुद्ध आचरण करते हैं । मेरी आँखें विरुद्ध आचरण करती हैं । मेरे हृदय में स्थित ज्योति भी विरुद्ध आचरण करती है । मेरा मन दूर-दूर विचरण करता है । मैं अपने परमेश्वर को क्या उत्तर दूंगा ?'

क्या दुनिया बुद्धिपूर्वक नहीं बनी ?

फिर क्या यह दुनिया दुःखों ही के लिए बनाई गई है ? क्या भगवान् ने प्रकृति को इसीलिए गति दी थी कि जीव दुःखों ही से पीड़ित रहें ? क्या परमात्मा का सामर्थ्य बुद्धिपूर्वक नहीं था ? ऐसी बात नहीं है । भगवान् तो ज्ञानस्वरूप है । उसका कोई भी कार्य ज्ञान और बुद्धि के विपरीत नहीं । उसके हर काम में पूरा विज्ञान, पूरा नियम और पूरी समझ है । वेद, उपनिषद्, दर्शन तथा दूसरे शास्त्र तो यह आदेश देते ही हैं ।

पश्चिमी विद्वानों में न्यूटन (Sir Iasac Newton) से लेकर लॉर्ड कालवन (Lord Kalven) तक ये सारे उच्चकोटि के वैज्ञानिक यही स्वीकार करते हैं कि संसार की रचना संसार-रचयिता की बुद्धिपूर्वक रचना का परिणाम है ।[1] इंगलैण्ड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक (Scientist) डॉक्टर फ़्लेमिंग (Dr. J. A. Fleming) ने लिखा है—"जगत् में उद्देश्य, नियम, स्थिरता, निर्देशक-शक्ति की सत्ता, बोधगम्यता आदि सब गुण पाये जाते हैं ।" उन्होंने एक उदाहरण भी दिया है, जिसमें बतलाया गया है कि सारी सृष्टि किस प्रकार नियमपूर्वक कार्य कर रही है । वे लिखते हैं, "प्रत्येक ग्रह का अन्तर सूर्यमण्डल से दूसरे की अपेक्षा बराबर लगभग द्विगुण होता चला गया है । यदि पृथिवी का सूर्य से अन्तर एक सौ मील कल्पना कर लिया जाय तो सूर्य से सम्बन्धित मुख्य ग्रहों की सूर्य से दूरी इस प्रकार होगी :—(१) बुध ३९, (२) शुक्र

1. Science and Religion by Seven Men of Science, P. 32.

७२, (३) पृथिवी १२०, (४) मंगल १२०, (५) बृहस्पति ५२०, (६) शनिश्चर ६५०, (७) अरुण (यूरैनस) १६२०, (८) वरुण (नेपचून) ३००० । ये अङ्क लगभग द्विगुण होते हैं । यह आकस्मिक घटना नहीं है । किन्तु इससे नियन्ता का नियम जो सृष्टि रचने में पाया जाता है, प्रकाशित हो रहा है ।"[1]

फिर दुःख क्यों ?

जब भगवान् ने सृष्टि बुद्धिपूर्वक और पूरे नियम से बनाई है तो फिर दुःख को दूर करने के प्रयत्न क्यों सफल नहीं होते और दुःख नित्यप्रति बढ़ते ही क्यों चले जा रहे हैं ? इसका कारण यही प्रतीत होता है कि जीव ने दुःखों के सर्वथा नाश का यत्न नहीं किया; केवल दुःखों को टालने की बात है । इसीलिए 'सांख्य-दर्शन' में मुनि ने कहा :

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातहेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावाद् ।। १ ।।

'अन्तःकरण में होनेवाले तीन प्रकार के दुःखों के साथ आत्मा का प्रतिकूलतारूपी सम्बन्ध है, अर्थात् आत्मा इन दुःखों को चाहता नहीं, इसलिये इन दुःखों का नाश करने के लिए विचारवान् पुरुषों को जिज्ञासा होती है कि इनके नाश करने के कौन-से साधन हैं । यद्यपि दृष्ट उपायों से भी दुःखों का नाश होता है, तथापि इनसे अत्यन्त नाश नहीं होता । अतएव ऐसा उपाय खोजना चाहिए, जिससे इन दुःखों का सर्वथा और नियम से नाश हो जाय ।'

सारे शास्त्रों का सार

सारे ही शास्त्रों और सारे ही अनुभवी महानुभावों ने दुःखों के अत्यन्त नाश और सर्वदा के लिए आनन्द ही में मग्न रहने का एक ही साधन बतलाया है और वह है तत्त्वज्ञान ।

तत्त्वज्ञान

तत्त्वज्ञान के बिना इस उद्देश्य तक पहुँचना असम्भव है ।

गौतम मुनि के दर्शन का सार यह है कि जीव को दुःख मिथ्या

---

1. Science and Religion by Seven Men of Science, P-P., 31—56.

ज्ञान से होता है। मिथ्या ज्ञान से दोष (राग-द्वेष), दोष से प्रवृत्ति (सकाम कर्म करने की इच्छा), प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख उत्पन्न हो जाते हैं। मिथ्या ज्ञान का जब तक नाश नहीं होता, दुःख भी तब तक नहीं जा सकते। गौतम मुनि कहते हैं कि मिथ्या ज्ञान का नाश तत्त्वज्ञान ही से हो सकता है। इनके मत में १६ पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। कणाद मुनि के मत में पदार्थ ६ हैं। इन पदार्थों के तत्त्वों का जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती।

सांख्य का मत

सांख्य-शास्त्र के कर्त्ता कपिल मुनि जी ने पहले चार प्रकार के पदार्थों का विभाग किया है : (१) प्रकृति, (२) विकृति, (३) प्रकृति-विकृति (उभयात्मक विकृति), (४) प्रकृति-विकृति से रहित। फिर इनके २५ विभाग किये हैं—(१) प्रकृति, (२) पुरुष, (३) महत्तत्त्व, (४) अहंकार, (५) मन, (६) श्रोत्र (७) त्वक्, (८) चक्षु, (९) जिह्वा, (१०) घ्राण, (११) वाक् (१२), पाणि, (१३) पाद, (१४) पायु, (१५) उपस्थ, (१६) शब्द, (१७) स्पर्श, (१८), रूप, (१९) रस, (२०) गन्ध, (२१) आकाश, (२२) वायु, (२३) अग्नि, (२४) जल, (२५) पृथिवी। इन्होंने अपनी समाधि-अवस्था में सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम यह देखा :

> प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
> तस्मादपि च षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥

'प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धि तत्त्व), महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्रा तथा इन १६ स्थित पंचतन्मात्राओं से आकाशादि पंचभूत पदार्थ उत्पन्न होते हैं। प्रकृति और पुरुष (आत्मा) का जब पूरा ज्ञान हो जाता है तो दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होकर मुक्ति मिल जाती है।'

योग-शास्त्र के कर्त्ता पतञ्जलि मुनि जी कपिल मुनि जी के बतलाये तत्त्वों के अतिरिक्त परमेश्वर तत्त्व भी बतलाते हैं और यह आदेश देते हैं कि अष्टाङ्गयोग के द्वारा जीव का अज्ञान नष्ट हो जाता है

और जीव अपने-आप को इन सारे भौतिक पदार्थों में सर्वथा पृथक् अनुभव करके समस्त दुःखों से विमुक्त हो जाता है।

वेदान्त का मत

व्यास मुनि जी वेदान्त-दर्शन के कर्त्ता हैं। इनके ब्रह्म-सूत्रों के भाष्य दो प्रकार के मिलते हैं—एक तो अद्वैतपरक, दूसरे द्वैतपरक। वेदान्त-सूत्रों से दो प्रकार के सिद्धान्त निकाले हुए देखे जाते हैं। अद्वैत-वाद के अनुसार ब्रह्म ही सारी सृष्टि हो गया है। इस वाद में प्रकृति को अनिर्वचनीय कहा गया है और बतलाया है कि—

"अनादि अनिर्वचनीय सब भूतों की प्रकृति और चिन्मात्र में रहनेवाली जो माया है, उस माया में चैतन्य का जो प्रतिबिम्ब है, वह ईश्वर है और उसी माया के अविद्या नामक आवरण और विक्षेप-शक्तिवाले जो परिच्छिन्न अनन्त प्रदेश हैं, उनमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है।" यह सिद्धान्त मानकर इस सारे प्रपंच से छुटकारा पाने का साधन ज्ञान ही बतलाया गया है। इस अद्वैतवाद-सिद्धान्त के श्री शंकराचार्य जी महाराज प्रमुख नेता हैं। परन्तु क्या ब्रह्म-सूत्रों से अद्वैत की ही सिद्धि होती है? इसपर 'शांकर-भाष्यालोचन' में श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० ने जो प्रकाश डाला है वह भी विचारणीय है। 'शांकर-भाष्यालोचन' में भी स्वामी शंकराचार्य जी का यह स्थल दिया गया है :

> नेतरोऽनुपपत्तेः। १। १।१६॥
> इतरश्चानन्दमयः पर एवात्मा। नेतरः।
> इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः॥
> जीव आनन्दमयशब्देन नाभिधीयते।
> कस्मात्? अनुपपत्तेः॥ शां० भा० पृष्ठ ३८॥

'आनन्दमय परमात्मा ही है, जीव नहीं। 'इतर' का अर्थ है, ईश्वर से भिन्न संसारी या जीव। जीव के लिए आनन्दमय शब्द नहीं लाते। क्यों? उपपत्ति नहीं बैठती।' यहाँ स्पष्ट कहा है कि जीव ईश्वर से भिन्न है।

भेदव्यपदेशाच्च । १ । १ । १७ ॥
इतरश्च नानन्दमय संसारी ।
यस्मादानन्दमयाधिकारे रसो वै सः ।
रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ॥ तै० २ । ७ ॥
इति जीवानन्दोभयो भेदेन व्यपदिशति ।

शां० भा० पृष्ठ ३६ ॥

यहाँ भी आनन्दमय जीव नहीं, आनन्दमय अधिकार से उपनिषद् (तै० २ । ७) में कहा कि "ब्रह्म रस है, यह रस को पाकर ही आनन्दी होता है ।" यहाँ स्पष्टतया जीव और आनन्दमय में भेद बतलाया है । यह लेख 'शांकर-भाष्यालोचन' से लिया गया है ।

परन्तु जो द्वैतवादी हैं, वे तो ब्रह्म-सूत्रों का अर्थ लगाते ही द्वैत में हैं और ब्रह्म-सूत्रों से यह मानते हैं कि प्रकृति सत् है, जीव सत् और चित् है तथा ब्रह्म सत्-चित् और आनन्द है । जीव जब प्रकृति से अपने-आप को पृथक् कर लेता है तो वह ब्रह्म को प्राप्त करके आनन्दमय हो जाता है और इसका साधन ज्ञान ही है, अर्थात् अन्त में दोनों वाद एक ही परिणाम पर पहुँचे कि तत्त्वज्ञान के बिना न बन्धन से मुक्ति है, न दुःखों से छुटकारा ।

जैनमत की बात

जैनमत के महानुभावों ने दो ही तत्त्व—जीव और अजीव माने हैं । जीवों के दो भेद बतलाये हैं—संसारी और मुक्त । फिर इसका विस्तार जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गलास्तिकाय से भी किया गया है । प्रकारान्तर से तब जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध, मोक्ष, इन सात पदार्थों का वर्णन किया गया है । दुःखों सें छूटने और मुक्ति प्राप्त करने के साधन सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र ही बतलाये हैं ।

परिणाम एक ही

निष्कर्ष यह है कि ईश्वरवादी अथवा अनीश्वरवादी सब-के-सब, एक बात पर पूर्णतया सहमत हैं कि तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और किसी प्रकार से नहीं हो सकती ।

वेद भगवान् का आदेश

वेद भगवान् ने आदि सृष्टि में ही यह आदेश दे दिया था कि :

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या ऽअध्याभरत् ॥ यजु० ११ । १ ॥

'तत्त्वज्ञान के लिए जब योगी अपने मन को पहले परमेश्वर में युक्त करता है, तब परमेश्वर उसकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है । फिर वह साधक परमेश्वर के प्रकाश को अपने में धारण करता है । पृथिवी पर योगी का यह प्रसिद्ध लक्षण है ।'

परमात्मा के साथ युक्त हुए बिना (समाधि-अवस्था प्राप्त किये बिना) तत्त्वज्ञान प्राप्त होना कठिन है और तत्त्वज्ञान के बिना समाधि-अवस्था प्राप्त होना कठिन है । ये दोनों एक-दूसरे के आधार पर हैं । इन्हीं से फिर दुःखों का नाश और सुख की प्राप्ति होती है ।

यजुर्वेद के ११वें अध्याय में दूसरे मन्त्र में फिर यह आदेश है :

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ यजु० ११ । २ ॥

महर्षि दयानन्द ने इसके जो अर्थ लिखे हैं उसका अभिप्राय यह है कि—'दुःखों से छूटकर मोक्ष-आनन्द प्राप्त करने के लिए योग तथा विज्ञान से अथवा तत्त्वज्ञान के सामर्थ्य से उपासना-योग द्वारा आत्मा को शुद्ध करके परमेश्वर में प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों ।

तत्त्वज्ञान क्या है ?

वास्तव में प्रकृति, जीव तथा परमात्मा का सत्यज्ञान ही तत्त्वज्ञान है । यह स्वच्छ ज्ञान समाधि-अवस्था में विवेकख्याति की भूमि पर पहुँचकर प्राप्त होता है । जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों अपने वास्तविक स्वरूप में तो दृष्टिगोचर होते ही नहीं । जीवात्मा जब शरीर के साथ सम्बन्धित होता है तो यह अमूर्त्त से मूर्त्त दिखलाई देने लगता है और परमात्मा जब सृष्टि रचता है तो उसके सारे वैभव को देखकर उसका विराट् रूप दिखाई देने लगता है ।

मनुष्य-शरीर में आत्मतत्त्व कौन-से हैं और अनात्मतत्त्व कौन-से हैं, इनका विवेक करने से आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है और इस

ब्रह्माण्ड में वह परमात्मा कौन है, जिसके ज्ञान से परमतत्त्व का ज्ञान होता है।

जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे

शरीर और ब्रह्माण्ड दोनों के तत्त्व एक ही हैं, इसलिए दोनों में बड़ी भारी समता हैं। चरक शारीरस्थान में जगत् और पुरुष की तुल्यता बतलाई है। वहाँ लिखा है :

षड् धातवः समुदिता लोक इति शब्दं लभन्ते। तद्यथा पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमित्येत एव च षड् धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते। तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्त्तिरापः क्लेदस्तेजोऽभिसन्तापो वायुः प्राणो वियच्छिद्राणि ब्रह्मान्तरात्मा॥

शारीरस्थान ५। ३॥

'छः धातुओं से मिला हुआ जगत् है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और अव्यक्त ब्रह्म या परमात्मा—इन छः से सम्मिलित मूर्तिमान् जगत् है। इस प्रकार मनुष्य-शरीर में पाँच भूत और छठा आत्मा है। जैसे मूर्तिमान् जगत् में पृथिवी देखने में आती है, ऐसे ही पुरुष का शरीर पृथिवी की तरह दिखलाई देनेवाला है। जगत् में एक ओर जल का प्रभाव है, पुरुष-शरीर में भी क्लेदरूप जल है। जगत् में एक ओर अग्नि है, शरीर में जठराग्नि है। जगत् में पूर्व-पश्चिम को वायु गमन करती है, मनुष्य में प्राण-अपान का गमन है। मूर्तिमान् जगत् में एक ओर आकाश है, शरीर में छिद्रसमूह-रूपी आकाश है। मूर्तिमान् जगत् का प्रकाशक ब्रह्म है, शरीर में जीवात्मा है। इस प्रकार शरीर और ब्रह्माण्ड दोनों में बराबर-बराबर धारा देखी जाती है।'

आदियोगी शिव भगवान् ने और भी स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि :

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालिकाः॥

'इस शरीर के भीतर सप्त द्वीप समन्वित सुमेरु पर्वत और नदियों के समूह तथा सागर-क्षेत्र और क्षेत्रपाल विद्यमान हैं।' शिव भगवान्

फिर पार्वती देवी को बतलाते हैं कि सप्त लोक और सप्त पाताल शरीर में भी हैं और उनके स्थानों का निर्देश करते हुए शिव जी कहते हैं :

मूलाधारे तु भूर्लोकः स्वाधिष्ठाने भुवस्ततः।
स्वर्लोको नाभिदेशे च हृदये तु महस्तथा॥
जनलोकं कण्ठदेशे तपोलोकं ललाटके।
सत्यलोकं महारन्ध्रे इति लोकाः पृथक् पृथक्॥
तलं पादांगुष्ठतले तस्योपरि तलातलम्।
महातलं गुल्फमध्ये गुल्फोपरि रसातलम्॥
सुतलं जंघयोर्मध्ये वितलं जानुमध्यगम्।
ऊर्वोर्मध्ये तलम्प्रोक्तं सप्तपातालमीरितम्॥

'मूलाधार[1] में भूलोक, स्वाधिष्ठान[2] में भुवर्लोक, नाभि में स्वर्गलोक, हृदय में महर्लोक, कण्ठ में जनलोक, ललाट में तपलोक और ब्रह्मरन्ध्र में सत्यलोक है। इसी प्रकार कटिदेश से उपरिस्थान में पृथक्-पृथक् ये सात लोक हैं। ऐसे ही पाँवों से ऊपर कटि-पर्यन्त सात पाताल लोक हैं—पाँवों के तले में तललोक, पाँव के उपरिभाग में तलातल और गुल्फ के बीच में महातल, गुल्फ के ऊपर रसातल, दोनों जंघाओं के मध्य में सुतल, जानु के मध्य में वितल और ऊरुओं के मध्य में पाताल लोक है। इन्हीं सात लोकों और सात पातालों को चौदह भुवन कहते हैं।'

सन्ध्या में प्राणायाम मन्त्र

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्।

सन्ध्या में यह जो मन्त्र आता है, उसका मानसिक जप करते तथा प्राणायाम करते हुए इन्हीं सात स्थानों या लोकों पर ध्यान लगाना होता है। इनको चक्र भी कहते हैं—(१) मूलाधार चक्र, (२) स्वाधिष्ठान चक्र, (३) मणिपूरक चक्र, (४) अनाहत चक्र, या हृदय चक्र, (५) विशुद्ध चक्र, (६) आज्ञा चक्र, (७) सहस्रार चक्र।

१. गुदा तथा लिङ्ग के बीच का स्थान। २. लिङ्ग के ऊपर का स्थान।

शरीर तथा ब्रह्माण्ड की तुल्यता का अनुभव तभी हो सकता है जब पहले ब्रह्माण्ड का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय और साथ ही शरीर-तत्त्व के सम्बन्ध में भली प्रकार जान लिया जाय कि यह शरीर ब्रह्माण्ड से पृथक् नहीं। पञ्च भूतों से वह बना है, उन्हीं से शरीर भी बना है। हाँ, शरीर में एक विशेषता अवश्य है। शरीर में जीवात्मा और परमात्मा दोनों विद्यमान हैं। अनुभवी लोग शरीर में इन दोनों का प्रकाश देखते हैं। तत्त्वज्ञान को इस प्रकार जानता हुआ साधक फिर सम्पूर्ण जगत् के भावों को अपने शरीर में देखने लगता है और अपने शरीर के सम्पूर्ण भावों को जगत् में देखता है। उसे अब आत्मबुद्धि प्राप्त हो जाती है। वह संसार के किसी पदार्थ में न सुख देखता है, न दुःख देखता है। सम्पूर्ण जगत् को आत्मा में देखता हुआ यह समझता है कि आत्मा (जीवात्मा) ही सुख-दुःख का कर्त्ता है और कोई कर्त्ता नहीं, क्योंकि कर्म आत्मा ही करता है। सम्पूर्ण हेतु आदिकों से आत्मा अलग है, केवल कर्मवश पञ्चभूतों में फँसा हुआ है। कर्म-क्षय होने से आत्मा इन सब भावों से पृथक् हो जाता है। जब यह तत्त्व-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब साक्षात् आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। उस समय दुःखों का अत्यन्त नाश होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

साधक सबसे प्रथम तो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे कि ये क्या वस्तु हैं और इनके कार्य, स्वभाव और गुण क्या हैं। कौन सत्त्वगुण-प्रधान है? कौन रजोगुण और कौन तमोगुणवाला है? फिर अपने शरीर में यह देखे कि पञ्चप्राण कहाँ क्या काम करते हैं? अग्नि तथा जल की परिस्थिति शरीर में क्या है? यह सारा ज्ञान वीतराग गुरु द्वारा प्राप्त करके फिर अपनी ध्यान-अवस्था में इनको प्रत्यक्ष करे। हरएक तत्त्व के शरीर में क्या कार्य हैं और वे ब्रह्माण्ड या जगत् में किस काम आते हैं? शरीर के तत्त्वों और जगत् के तत्त्वों में ऐसी समानता या एकत्व हो जाय कि जगत् का कोई तत्त्व किसी भी शारीरिक तत्त्व को हानि न पहुँचा सके अपितु सहायक साथी और रक्षक हो जाय। यह कार्य बाह्य जग तथा आन्तरिक दुनिया की तुलना को सिद्ध कर देगा।

आत्म-तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व का मिलाप

शेष रह जायेगा आत्म-तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व का मिलाप। इसके सम्बन्ध में प्रारम्भ में यह समझ लेना लाभप्रद होगा कि ब्रह्म-तत्त्व तो सारे जगत् के भीतर भी और जगत् से बाहिर भी विराजमान है परन्तु वह जगत् की किसी भी वस्तु में लिप्त नहीं होता, असंग रहता है। तमाशा करनेवाले और हैं; यह तो तमाशा देखता है और तमाशा करनेवालों के (अच्छे या बुरे) कर्मों के अनुसार, इन्हें इनाम (फल) देता है। जीवात्मा केवल शरीर में बन्द है। जब तक यह शरीर में है, मन और दस इन्द्रियों द्वारा सारा व्यवहार चलाता है। यह स्वाद और अस्वाद को चखता है और तब तक बन्धन में पड़ा रहता है जब तक स्वादु और अस्वादु दोनों प्रकार की भावनाओं का त्याग नहीं कर देता। जीवात्मा भूतों में लिप्त हो जाता है, आप तमाशा बन बैठता है और दुःख-सुख भोगता है। पर साधक जब यह समझ लेता है कि मैं पञ्च भूतों से सर्वथा पृथक् हूँ तो दुःखी नहीं होता।

मैं ऐनक नहीं हूँ

ऐनक का प्रयोग करनेवाला अपने-आपको ऐनक नहीं समझता। ऐसे ही साधक समझे कि मैं आँख नहीं, आँख तो केवल ऐनक है। नेत्र-इन्द्रिय का रूप जो विषय है, उस रूप का सूक्ष्म गोलक रूप-तन्मात्रा भी मन की ऐनक है। मन भी जीवात्मा की ऐनक है। तब मैं न तन्मात्रा हुआ, न इन्द्रिय हुआ, न विषय हुआ और न ही भौतिक तत्त्व हुआ। मैं तो हुआ शुद्ध आत्मा, जो न वृद्ध होता है, न जवान; जो न स्त्री है, न पुरुष; न कुमार है, न बालिका। उससे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी का बना कोई पदार्थ टूट जाता है या मेरे ही शरीर के मिले हुए पञ्चभूत बिखर जाते हैं तो मैं मोह और शोक में क्यों पड़ूँ? मैं रुदन क्यों करूँ? मैं पीड़ित क्यों हो जाऊँ? और मैं दुःख-सागर में क्यों डूबूँ? रूप-तन्मात्रा के सम्बन्ध में जो बात कही गई, यही शेष विषयों, भूतों और तन्मात्राओं के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए।

देह आत्मा नहीं है

आत्म और अनात्म वस्तुओं का जब पूरा विवेक किया जावे और

साथ ही संसार और संसारी पदार्थों का भी विवेक हो जाय, फिर दु:ख कहाँ ठहर सकता है ? क्योंकि दु:ख तो बन्धन से होते हैं। अनात्म वस्तुओं के तत्त्व को जानकर जब उनसे अपने-आप को पृथक् कर लिया तो बन्धन की निवृत्ति हो जाने से दु:ख स्वयमेव नष्ट हो गये। देह को जबतक 'मैं' (आत्मा) समझा जा रहा है, दु:ख तभी तक है और व्यवहार में आप देह को 'मैं' (आत्मा) समझते भी नहीं। देख लीजिये—जब आप कहते हैं कि मेरी आँख में पीड़ा है तो इसके स्पष्ट अर्थ यह हैं कि आप आँख नहीं, आँख के स्वामी हैं। ऐसे ही जब आप कहते हैं कि मेरी टाँग में चोट लग गई है तो इसका यही अर्थ है कि चोट 'मैं' (आत्मा) को नहीं लगी अपितु आत्मा ने जिस गृह में अपना निवास कर रखा है, उसके एक भाग में चोट लगी है; आत्मा को तो नहीं लगी। अनात्म या भौतिक पदार्थों से अपने-आप को अलग करके साधक जब अपने-आप को आत्मा अनुभव कर लेता है और ध्यान-अवस्था में पहुँचकर जब आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब कहा जाता है कि इसने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया।

ऋग्वेद के पहले ही मण्डल का यह मन्त्र ध्यानपूर्वक पढ़िये :

तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वात इव ध्रजीमान्।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति॥

सूक्त १६३। मन्त्र ११॥

'हे आत्मन्! तेरा शरीर पतनशील, विनाशवान् है। तेरा चित्त वेगवान् वायु के तुल्य अतिचंचल है। तेरे पुत्र इन्द्रिय-रूपी सींग बहुत बड़े-बड़े विषय-वासनारूपी जंगलों में विशेष स्थिरता से विचरण करते हैं; बुरी तरह वासनाओं के वन में फँसे हुए हैं।' परन्तु आत्मा तो इनसे पृथक् है। यही ज्ञान धारण करना है। वेद भगवान् ने आत्मा तथा शरीर को एक ही मन्त्र में आदेश दिया है :

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः॥

अथर्व० १०। ८। २६॥

'कल्याण करनेवाला यह आत्मदेवता अमर है और मर्त्य प्राणी के घर अर्थात् शरीर में रहता है। जिसे आत्मबोध हो जाता है, वह सुख प्राप्त करता है और जो पुरुषार्थ करता है वही स्तुति करने योग्य है।'

तत्त्वज्ञान से कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर आत्मतत्त्व और ब्रह्म के मध्य किसी प्रकार का आवरण नहीं रहता। उनका मिलाप तो हुआ ही हुआ है। क्या आत्मा से परमात्मा नहीं है? निस्सन्देह है। दूरी का भ्रम तो अज्ञान से था, वह आवरण दूर हो गया। अब तो 'एकत्वमनुपश्यति' की अवस्था आ पहुँची। पर जैसे शरीर में आत्म और अनात्म वस्तु का विवेक करके आत्मा को खोज लिया जाता है, ऐसे ही शरीर और जगत् दोनों के भौतिक ज्ञान और तत्त्वों के द्वारा ब्रह्म को खोजा जाता है।

: ११ :

वेद में ब्रह्म-तत्त्व

ब्रह्म-तत्त्व क्या है ? वेद ने इसका बड़ा सुन्दर निरूपण किया है :

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।
ऋ० १० । ८१ । ३ ।।

'सुनो ! वेद उस ब्रह्म-तत्त्व के सम्बन्ध में कहता है जिसके सर्वत्र आँख हैं और जिसके सर्वत्र मुख हैं, जिसके बाहु सर्वत्र कार्य कर रहे हैं, वह बाहु के द्वारा उनके कर्मानुसार जीवों को गति देता है। वही देवता द्यु-लोक और पृथिवी को उत्पन्न करता है।'

वेद भगवान् ने ब्रह्म-तत्त्व का जो ज्ञान दिया है, वह कोई और नहीं दे सकता क्योंकि यह तो उसी की, अपनी ही पवित्र वाणी है। इसी के द्वारा यह प्रकट होता है कि वह परमात्मा सर्वव्यापक है। यह संसार तो केवल उसका एक अंश समझना चाहिए। वह तो ब्रह्माण्ड से भी बहुत परे व्यापक है, निराकार है और इसी कारण से सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि सारे लोकों का आधार है, अनन्त है। चींटी तो हाथी का अन्त पा ले, मनुष्य उसका अन्त नहीं पा सकता जो अनुपम, अजर, अमर, अभय, दयालु, न्यायकारी, नित्य, सनातन है; सच्चिदानन्द, निर्विकार, पवित्र, विमल, निर्मल, अन्तर्यामी और सबका उपास्य देव है, उसी परम तत्त्व को अनेक नामों से पुकारते हैं। उसे अनन्त गुणों के कारण इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि नाम देते हैं। परन्तु नाम चाहे कितने ही रख लो, वह एक ही है।

स एष एक एकवृदेक एव ।। अथर्व० १३ । ४ । १ । १२ ।।

'वह एक ही है, अकेला वर्तमान एक ही है।'

उसका निज और मुख्य नाम 'ओ३म्' है। वेद, उपनिषद्, दर्शन, गीता, सारे शास्त्रों और ग्रन्थों में ओ३म् ही के द्वारा उस तत्त्व तक पहुँचने का आदेश है। अथर्ववेद के ११वें काण्ड के सातवें सूक्त के २७वें मन्त्र में बड़ी सुन्दरता से बतलाया गया है कि यह सारी सृष्टि परमात्मा ही के सामर्थ्य से बनी और वही इसकी धारणा कर रहा है। ये भूत, ये लोक, ये ग्रह, ये १० प्राण, ये इन्द्रियाँ और फिर इन सबका नाश परमात्मा के द्वारा ही होता है। वही परमात्मा पिता का भी पितामह है, प्राणों का पालक, रक्षक और हितकारी है; सृष्टि में रहता हुआ भी इसके बन्धन से रहित है। इस सूक्त का पहला मन्त्र यह है :

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥

अथर्व० ११। ७। १॥

'परमात्मा में नाम और रूपवाला जगत् रहता है। उसी भगवान् में लोक-लोकान्तर रहते हैं। उसी में अग्नि तथा उसी में सम्पूर्ण विश्व समाया है।'

इसी सूक्त का २३वाँ मन्त्र यह है :

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

अथर्व० ११। ७। २३॥

'जो भी प्राण धारण कर रहा है और जो भी आँख से देखता है, और द्युलोक में रहनेवाले जो प्रकाशाश्रित दिव्य पदार्थ हैं, वे सब उच्छिष्ट (परमात्मा) से बनते हैं।

इस सूक्त में परमात्मा को बार-बार 'उच्छिष्ट' शब्द से पुकारा गया है। उच्छिष्ट का अर्थ है जूठा या शेष बचा हुआ। प्रयोजन यह है कि सारे दृश्यमान संसार में बाकी जो बचा रहता है, वही वास्तविक रूप में तत्त्व है। वही सबके अन्दर और बाहिर है; सबको धारण करके भी अलिप्त है। वही सार वस्तु है, साधक ने इसी तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना है।

यह तत्त्व कैसा है ?

उसका कुछ और दिग्दर्शन निम्न मन्त्रों में किया गया है :

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम् ।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥
अ० १० । ८ । ६ ॥

'पुरातन विस्तृत तत्त्व सर्वत्र गूढ़ या व्याप्त है । वह प्रकट होकर भी सम्यक् रीति से छिप रहा है । जो प्राण धारण करता है, हलचल करता है तथा जो स्थिर है, यह सब उस एक तत्त्व में समर्पित हुआ है ।'

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत् ।
तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ॥
अथर्व० १० । ८ । ११ ॥

'जो हिलता है, उड़ता है, ठहरा है, प्राण धारण करता है, प्राण धारण नहीं करता है; जो आँखों की पलकें हिलाता है, बनता है ।'

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥यजु० ३२।११॥

'जो परमेश्वर आकाशादि सारे भूतों में तथा सूर्यादि सारे लोकों में व्याप्त हो रहा है, सब दिशाओं-उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है, जिसकी व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं, जो अपने सामर्थ्य का आत्मा है और जो कल्पादि सृष्टि की उत्पत्ति करनेवाला है, उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य-मन से यथावत् जानता है, वही उसको प्राप्त होके सदा मोक्षसुख को भोगता है ।'

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥
अ० १० । ७ । ३८ ॥

'ब्रह्म जो महत् (सबसे बड़ा) और सबका पूज्य है, जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना करने योग्य है, विज्ञानादि गुणों में जो सबसे बड़ा है, सलिल—जो आकाश है, उसका भी आधार और

उनमें व्यापक तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहनेवाला है; जिसके आश्रय से वसु आदि तेंतीस देव[1] ठहर रहे हैं, जैसे कि पृथिवी से वृक्ष का प्रथम अंकुर निकल के और वही स्थूल होकर सब डालियों का आधार होता है, इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का आधार वही परमेश्वर है।'

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भेऽअन्तः।
सऽएव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥

यजु० ३२।४॥

'वह देव सारे कोणों को घेरे हुए स्थित है। वह आदि था, वही सबके गर्भ में रहता है। वही प्रकट हुआ, वही प्रकट होता रहेगा। हे लोगो! वह सर्वतोमुख होकर तुम्हारे सामने खड़ा है।'

सर्वतोमुख का तात्पर्य यह है—सब ओर मुख किये हुए, सबपर दृष्टि डालते हुए और सबके लिए सब जगह देखने योग्य। ज्ञान-चक्षु (दिव्य नेत्र) खोलो और मुझे देख लो :

रोशन हैं मेरे जलवे हर एक शै में लेकिन,
है चश्म कोर तेरी, क्या है क़ुसूर मेरा॥

---

१. तेंतीस देवता ये हैं—आठ वसु=अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र। इन्हें वसु इसलिए कहते हैं क्योंकि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं।

ग्यारह रुद्र—दस प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय; और आत्मा। इनका नाम रुद्र इसीलिए है कि जब ये शरीर से निकलते हैं तो शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले रोते हैं। रुलानेवाले होने के कारण ये रुद्र हैं।

बारह आदित्य=अर्थात् १२ महीने।

एक इन्द्र देवता और एक प्रजापति।

इस प्रकार ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, एक इन्द्र, एक प्रजापति—ये कुल ३३ देवता हैं। परन्तु उपासना-योग्य केवल एक ब्रह्म ही है।

वेद के शब्दों में

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहति दूरे अन्तः ।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ।।

अथर्व० ४ । १६ । ३ ।।

'यह भूमि भी राजा वरुण (शासन करनेवाले भगवान्) की है और वह बड़ा द्यौ भी जिसके किनारे दूर हैं। दोनों समुद्र (वायु तथा जल का) वरुण की कुक्षी हैं और वह पानी की इस छोटी-सी बूंद में भी छिपा हुआ है ।'

भगवान् के उस परम तत्त्व की इतनी महान् शक्ति है कि वह संसार के हर जीव-जन्तु, हर प्राणि तथा हर जड़-चेतन की एक-एक गति, एक-एक हाव-भाव, हृदय के एक-एक संकल्प को देखता है। उससे छिपकर, उससे भागकर, उससे पृथक् होकर कहाँ जाओगे? जहाँ भी जाओगे, वहाँ तो वह परम तत्त्व पहले ही विराजमान है और सब-कुछ देख रहा है :

यो विश्वाऽभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।
स नः पूषाऽविता भुवत् ।। ऋ० ३ । ६२ । ९ ।।

'जिसकी सारे प्राणियों तथा पदार्थों पर अलग-अलग दृष्टि है और सबपर एक-साथ दृष्टि है, वह पूषा हमारा सहायक है ।'

तत्त्वज्ञानी निष्पाप हो जाता है

ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर क्या कोई मनुष्य किसी वन-उपवन में, किसी अँधेरी कोठरी में, नहीं-नहीं, अपने हृदय के किसी कोने में, कोई भी पाप कर सकता है ? या पाप का चिन्तन भी कर सकता है ? कदापि नहीं। भगवान् के समक्ष, माँ के सामने, गुरु, बन्धु, मित्र के सामने, ऐसा न हो सकेगा। ऐसा है वह परम तत्त्व। इस तत्त्व को जाननेवाला निष्पाप हो जाता है, पवित्र और निर्मल हो जाता है। अब यदि शरीर है, तो भी शरीर के दुःख उसे दुःखित नहीं करते और शरीर के सुख उसे बन्धन में डालते नहीं। घुमाये हुए चक्र की भाँति अपना भोग्य पूर्ण करके वह मुक्त अवस्था को पा लेता है।

वह इन्द्र कौन है ?

ऋग्वेद मण्डल २ का १२वाँ सूक्त उसी तत्त्व का वर्णन इन्द्र के नाम से करता है। सूक्त के कुछ मन्त्र देखिये :

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥

ऋ० २।१२।२॥

'जिसने (आदि में पिघली हुई होने के कारण) लहराती हुई पृथिवी को दृढ़ जमा दिया और जिसने प्रकुपित हुए (आदि में अग्निवर्षण करते हुए) पर्वतों को शान्त किया, जिसने अन्तरिक्ष को बड़ा विशाल बनाया है, जिसने द्यौ को धारण किया है, हे मनुष्य, वह इन्द्र है।'

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥

ऋ० २।१२।५॥

'जिसके विषय में पूछते हैं वह कहाँ है? और कई यहाँ तक कहते हैं कि वह नहीं है; वही है जो कि भयंकर बनकर ऐसे शत्रुओं (घमण्ड में उनकी प्रजा को पीड़ित करनेवालों) की पुष्टियों को पक्षियों की नाईं मरोड़ डालता है। उसके लिए श्रद्धा रखो। हे मनुष्यो! वह इन्द्र है।'

वेद का मुख्य तात्पर्य

वेद भगवान् के लगभग बीस हज़ार मन्त्रों में से हरएक मन्त्र उसी परम तत्त्व की महिमा का गायन करता है। कौन-सा मन्त्र लिखें और कौन-सा छोड़ें? यहाँ तो सारे ही असली मुक्ता-मणियाँ हैं। ठीक लिखा है महर्षि दयानन्द ने :

"वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही के प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है।"

वेदान्त शास्त्र में व्यास मुनि जी ने भी यही लिखा है :

"सब वेद-वाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है, कहीं-कहीं साक्षात् रूप और कहीं-कहीं परम्परा से। इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है।"

परम तत्त्व परमात्मा का पूरा शाब्दिक ज्ञान वेदों ही से हो सकता है परन्तु यह शाब्दिक ज्ञान तभी सफलीभूत होगा जब साधक स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर की चेष्टाओं तथा वासनाओं से ऊपर उठ जायेगा। सत्त्वगुण जब प्रधान हो जायेगा, उस समय अद्भुत बृहद् ज्योति प्रकट हो जाती है; साधक को विवेकख्याति प्राप्त करा देती है। अब साधक प्रकृति और उसके सारे विकारों से सर्वथा पृथक् परन्तु सबके आधार परम तत्त्वों को अपने आत्मा की दिव्य दृष्टि से देखता है, आत्मा में आत्मा को देखता है। ये ही दोनों आत्मा बिछुड़े हुए थे। प्रकृति के सारे विकारों से निखरकर अब ये फिर एकत्त्व को प्राप्त हो रहे हैं, यही तत्त्वज्ञान का फल है।

इस अवस्था तक पहुँचा हुआ साधक ही संसार का मुख फेरने में सफल हो सकता है। शेष तो व्यर्थ का श्रम करते और आप दुःखी होते तथा दूसरों को भी दुःखी करते हैं।

एतद् वै तत्

वेदों के परम तत्त्व परमात्मा का पूरा व्याख्यान उपनिषदों में अधिक सरलता से मिलता है। उपनिषदों के ऋषियों ने सारे भौतिक तत्त्वों का सार जानने के लिए और अन्त में आत्मतत्त्व से एक हो जाने के लिए त्याग, वैराग्य, तितिक्षा, तप, तथा शम, दम, और ज्ञान का आश्रय लेकर एकान्त-शान्त निर्जन वनों, हिमालय की कन्दराओं, नदियों के संगमों और शुद्ध वातावरण में वर्षों धारणा, ध्यान तथा समाधि की अवस्था में रह स्पष्ट अपने हृदय-मन्दिर में उस एक तत्त्व को सारी विकृति में निखरा हुआ देखा और पहचाना कि यही है वह, जो सब भूतों को प्रेरणा देनेवाला है, जो सारे संसार को घुमा रहा है और आप निश्चल है। यही है वह देव जिसकी नन्ही-सी सामर्थ्य से प्रकृति का नाच प्रारम्भ हो गया। वह अदृश्य बन गई। वह आत्मा के भोग तथा अपवर्ग के लिए नाना रूप धारण करके दासी की भाँति कार्य करने लगी। यह है वह, जिसने जीवात्मा को पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, बुद्धि और मन दे रखे हैं और इनके साथ प्राणरूपी

विद्युत् भी ताकि इस सारे कारखाने को यह प्राण चलाता रहे। और इस प्राण को प्राण देनेवाला कौन है?—यही।

यही है वह तत्त्व

यही तो है वह जिसने सबको अग्नि दे रखी है। मनुष्यों में जठराग्नि-रूप से, पृथिवी में गर्मी-रूप से, द्यौ में सूर्य-रूप से वही तो चमकता है। समष्टि रूप मे सारे ब्रह्माण्ड में वही तो वैश्वानराग्नि कहा जाता है। जल, अग्नि, वायु में भी, गर्जते हुए बादलों में भी, चन्दन की समाधियों में भी, उछलते हुए समुद्र में भी, वृक्षों और वनस्पतियों में भी यही तो है वह—सारे संसार का जीवन! यह अपनी गर्मी की रेखा समेट ले तो सारा खेल अभी समाप्त हो जाय।

इसी परम तत्त्व को देखकर उपनिषदों के ऋषियों ने दुनिया के दुःखी लोगों से कहा—"किधर जा रहे हो? इधर आओ, इस तत्त्व को जानो! इसी को जानकर तुम सुखी हो सकोगे और इसी को जानकर तुम्हारा जीवन सफल हो सकेगा, अन्यथा विनाश-ही-विनाश सामने खड़ा है।" केवल यह घोषणा ही नहीं की, अपितु सृष्टि के तथा आत्म और अनात्म तत्त्वों के सारे रहस्य खोलकर दिखला दिये और बतला दिया कि इन आँख, कान, वाणी, नासिका, प्राण और मन इत्यादि ही के जाल में फँसे रहना उचित नहीं। इनके बन्धन से अपने-आप को ऊपर उठाओ।

उपनिषदों का रहस्य

अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ केन० १।२॥

'ध्यानी जन इन श्रोत्र, मन, वाणी आदि के बन्धन से छूटकर, इस लोक से पृथक् होकर अमृत (अमर) हो जाते हैं।'

इन इन्द्रियों के बन्धन से छूटने का क्या प्रयोजन है? प्रयोजन यह है कि इनकी तो परम तत्त्व तक पहुँच है नहीं, आत्मा ही से आत्मा को देखा जा सकता है। 'केनोपनिषद्' बतलाया भी यही है:

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो।

'वहाँ, उस परम तत्त्व में आँख नहीं पहुँचती; न वाणी, न मन जाता है।' हाँ, यह सत्य है कि सारा संसार, संसार के सारे पदार्थ,

सारी इन्द्रियाँ और सारे भूत, उसी की प्रेरणा से कार्य में लगे हुए हैं।

वह प्रेरणा देनेवाला देव इतना ही नहीं, जितना यह संसार है; वह देव इससे कहीं बहुत बड़ा है। यह जो उसका जानना है, यह भी सीमित ही जानना है क्योंकि वह तो सर्वज्ञ है और जाननेवाला अल्पज्ञ है। अतएव न तो यह कहा जा सकता है कि उसको जान लिया, न ही यह कहा जा सकता है कि उसको नहीं जाना। जाना तो जाता है, परन्तु अल्प मानव के लिए उतना ही पर्याप्त है। हाँ, इन्द्रियों से ऊपर उठकर अपने-आप को पहले पाँच भौतिक तत्त्वों से सर्वथा पृथक् करके जब उस परम तत्त्व को देखा जाता है तो कुछ जाना जाता है।

वेद ने स्पष्ट कहा है :

"आत्मनाऽऽत्मानमभि सं विवेश।" यजु० ३२। ११॥

'इन्द्रियों से नहीं, उस ब्रह्म-तत्त्व की उपासना आत्मा से की जाती है।'

नचिकेता के बार-बार आग्रह करने पर जब यम ऋषि ने देखा कि नचिकेता को पंच भूतों के विषय नहीं बाँधते, यह सारे प्रलोभनों से ऊपर उठ गया है और वास्तविक तत्त्व को जाने बिना यह सन्तुष्ट नहीं होगा, तब यम ने वह रहस्य खोला, जिसे सुनने का सौभाग्य भी किसी-किसी को होता है। यम ने बतलाया कि यह रहस्य अबुद्धिमान्, अपवित्र की समझ में नहीं आता; जिसका मन वश में नहीं उसे भी नहीं समझ आता; बुद्धिमान्, पवित्र, मनस्वी ही इस रहस्य को जान सकते हैं। क्या है वह रहस्य ?

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ कठ० १०॥

'इन्द्रियों से परे इन्द्रिय-शक्तियाँ—सूक्ष्म तन्मात्राएँ हैं।

इन्द्रिय-शक्तियों—तन्मात्राओं से परे मन है।

मन से परे बुद्धि है।

बुद्धि से परे है महान् आत्मा—महत्तत्त्व। पिण्ड में यही चित्त है।'

महत्तत्त्व से परे अव्यक्त प्रकृति—और पिण्ड में चित्त से परे अहंकार है।

अव्यक्त प्रकृति से परे पुरुष अर्थात् परमात्मा है और पिण्ड में अहंकार से परे आत्मा है। पुरुष—परमात्मा और पिण्ड में आत्मा से परे कुछ नहीं, वह सीमा है, वह परली गति है।

यह जो आत्मा और परमात्मा है, यह केवल सूक्ष्मदर्शी योगी जनों द्वारा सूक्ष्म (ऊँची) बुद्धि से देखा जाता है।

यह कहकर यम ने इसके देखने का साधन भी बतलाया, जो कि यह है :

"ज्ञानवान् मनुष्य वाणी को मन में नियन्त्रित करे। उस मन को ज्ञानात्मा (बुद्धि) में नियन्त्रित करे। ज्ञान को महान् आत्मा चित्त में नियन्त्रित करे।" कैसे नियन्त्रित करे, इसके लिए यम ने यह आदेश दिया कि—"उठो, जागो, उत्तम जनों को प्राप्त होकर समझदार बनो!" ये सारे रहस्य खोलकर मार्ग का संकेत करके अब यम ऋषि उस परम तत्त्व का निरूपण करते हैं :

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥
एतद् वै तत्॥ कठ० वल्ली ४। ३॥

'जिसकी प्रेरणा से रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, मैथुन को प्राणी जानता है, तब और शेष क्या जानने योग्य रह जाता है! यही वह जानने योग्य तत्त्व है।'

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत॥ एतद् वै तत्॥ ६॥

'जो तप से, ज्ञान से—ज्ञानवान् जीवात्मा के शरीर-भाव से पूर्व प्रसिद्ध है और परमाणु-प्रवाह प्रकृति के प्रथम विकारभाव से भी पूर्व प्रसिद्ध होता है। हृदय-गुहा में प्रवेश करके ठहरे हुए को जो अन्य जड़ पदार्थों की विवेचना द्वारा उसे देखता है, बस, वही ज्ञातव्य तत्त्व है।'

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः॥
एतद् वै तत्॥ ८॥

"जैसे लकड़ियों में ज्वाला छिपी है या गर्भवतियों द्वारा गर्भ धारित हो छिपा हुआ होता है, ऐसे ही सर्वज्ञ परमात्मा सबमें छिपा हुआ है। वह जागरूक तथा आत्मसमर्पण-रूप हवि देनेवाले मनुष्यों द्वारा प्रतिदिन स्तुति करने योग्य है! यह एक रहस्य की बात है।'

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥
एतद् वै तत्॥ १२॥

'भूत से भविष्य-पर्यन्त का स्वामी पूर्ण परमेश्वर जीवात्मा में अंगुष्ठ-परिमाण होकर विराजमान है। जब यह निश्चय हो जाता है तो मनुष्य निन्दित नहीं होता। यही मर्म की, तत्त्व की बात है।'

ऐसे ही कितने ही प्रकार से यम ने उस परम तत्त्व की व्याख्या की है। कहाँ तक कोई व्याख्या करेगा? उसका तो कोई वार-पार नहीं, कोई सीमा ही नहीं। मुण्डक में कहा है:

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
मुण्डक० ३।१।७॥

'वह महान् है, दिव्य है, अचिन्त्य रूप है और सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर प्रतीत होता है। दूर से अधिक दूर है, तथापि यहीं हमारे निकट है। देखनेवालों के अन्दर वह यहीं हृदय की गुफा में छिपा हुआ है।

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' ने और भी अधिक बल के साथ कहा है:

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी, चेता, केवलो निर्गुणश्च॥ श्वेता० ६।११॥

'वह देव एक है। सारे भूतों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापक है, सब भूतों का अन्तरात्मा है, कर्मों का अधिष्ठाता है, सब भूतों का आधार है, साक्षी है, चेतन है, केवल है (तत्त्व है) और निर्गुण है।'

वह एक तत्त्व सारे भूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी) में किस प्रकार छिपा हुआ है और कैसे देखा जाता है ? इसका बहुत सुन्दर उत्तर यहाँ उपनिषद् देता है :

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ।। श्वेता० १ । १६ ।।

'वह सर्वव्यापी आत्मा दूध में मक्खन की तरह सारे विश्व में समाया हुआ है। 'आत्मविद्या और तप' उसकी प्राप्ति के मूल हैं। वह ब्रह्म, उपनिषद् का परम रहस्य है।'

फिर इस परम रहस्य ब्रह्म-तत्त्व के सम्बन्ध में यह भी जान लेना है कि जहाँ वह सर्वज्ञ है, हमारे कर्मों का फल देनेवाला अधिष्ठाता है और सर्वाधार है, वह आनन्दस्वरूप भी है। इस आनन्दमय तत्त्व ही से आनन्द प्राप्त हो सकता है, और किसी से नहीं। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में स्पष्ट कहा है :

विज्ञानमानंदं ब्रह्म ।। बृ० ३ । ९ । २८ ।।

'ब्रह्म विज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है।'

और यह भी कहा है :

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।। तै० २ । ५ ।।

'ब्रह्म के आनन्द को अनुभव करता हुआ वह किसी से नहीं डरता है।'

इस आनन्दमय तत्त्व ही की कृपा से यह सब-कुछ प्रकट हो गया। ये सारे भूत उसी आनन्दघन भगवान् ही के संकेत से उत्पन्न हुए; उत्पन्न होकर उसी आनन्दमय तत्त्व में जाते हैं और जब मरेंगे तो उसी आनन्द में प्रवेश करेंगे। तब अब आनन्द से परे क्यों हों ? उसी आनन्द के साथ ही क्यों न हम भी आनन्दित हो जायँ ? उपनिषद् ने भगवान् का एक सुन्दर चित्र खींचा है। वह भी देख लीजिये :

तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणा पक्षः ।
प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा ।। तै० २ । ५ ।।

'प्रेम उसका सिर है। मोद दायाँ पंख है। प्रमोद बायाँ पंख है। आनन्द उसका धड़ है।'

रह गया आनन्द ही आनन्द

पक्षी का रूप देखकर उस आनन्दमय तत्त्व का मोद-प्रमोद और आनन्द-ही-आनन्द रूप से वर्णन किया है। उस आनन्दरूप को पाकर फिर शोक, दुःख, पीड़ा रह भी कैसे सकती है? 'छान्दोग्य' ने कहा भी है :

तरति शोकमात्मवित् ॥ ७ । १ । २ ॥

'आत्मा का जाननेवाला शोक को तर जाता है।' तैत्तिरीयोपनिषद्' में परम तत्त्व परमात्मा को 'रस' कहा है :

रसो वै सः।

'वह रस है…सार है।' और निस्सन्देह इस असार संसार में सार-वस्तु आत्मा ही है। उसी से दुनिया में रस प्रतीत होता है और रस आनन्द लाता है। इसी प्रकार परमात्मा परम आनन्द देता है।

रसᳫ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति
को ह्येवान्यत कः प्राण्यात्।
यदेष आकाश आनन्दो न
स्याद् एष ह्येवानन्दयति ॥ तै० २ । ७ ॥

'रस को पाकर ही (पुरुष) आनन्द भोगता है। कौन जी सकता और कौन प्राण ले सकता, यदि यह आकाश में (हृदयाकाश में) आनन्द (ब्रह्म) न होता? यही आनन्द का हेतु है।'

रस=सार ही तत्त्व है। ध्यान-अवस्था में इस तत्त्व को भौतिक तत्त्व से पृथक् देखकर, उसे अपना मित्र बनाकर, फिर सारे पापों-दुःखों से मुक्त हो जाता है। अब न रोग रहे, न रोगी; न वासना रही, न मन रहा; न जन्म रहा, न मृत्यु। रह गया केवल आनन्द-ही-आनन्द!

ओं तत्सत्, ओं तत्सत्, ओं तत्सत्!

॥ समाप्त ॥

महात्मा आनन्द स्वामी कृत
उत्प्रेरक पुस्तकें

महामंत्र
दो रास्ते
तत्त्वज्ञान
प्रभु-दर्शन
प्रभु-भक्ति
बोध कथाएँ
सुखी गृहस्थ
मन की बात
एक ही रास्ता
त्यागमयी देवियाँ
घोर घने जंगल में
मानव जीवन गाथा
भक्त और भगवान्
प्रभु-मिलन की राह
शंकर और दयानन्द
आनन्द गायत्री कथा
उपनिषदों का सन्देश
मानव और मानवता
प्रभु-भक्ति देश-भक्ति
यह धन किसका है ?
दुनिया में रहना किस तरह ?
वैदिक सत्यनारायण व्रत कथा
श्री म० आनन्द स्वामी सरस्वती (जीवनी) (हिन्दी व उर्दू)
The Only Way
Bodh Kathayen
How to Lead Life?
Anand Gayatri Katha

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती कृत
विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें

सामवेद
स्वर्ण पथ
वेद सौरभ
षड्दर्शनम्
विदुर नीति
चाणक्य नीति
दिव्य दयानन्द
आदर्श परिवार
ब्रह्मचर्य गौरव
ऋग्वेद शतकम्
यजुर्वेद शतकम्
सामवेद शतकम्
अथर्ववेद शतकम्
वाल्मीकि रामायण
ऋग्वेद सूक्ति सुधा
यजुर्वेद सूक्ति सुधा
सामवेद सूक्ति सुधा
अथर्ववेद सूक्ति सुधा
कुछ करो कुछ बनो
चमत्कारी औषधियाँ
मर्यादा पुरुषोत्तम राम
भक्ति संगीत शतकम्
वैदिक विवाह पद्धति
वैदिक उदात्त भावनाएँ
महाभारतम् (तीन खण्ड)
विद्यार्थियों की दिनचर्या
चतुर्वेद शतकम् (सजिल्द)
दयानन्द सूक्ति और सुभाषित

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६

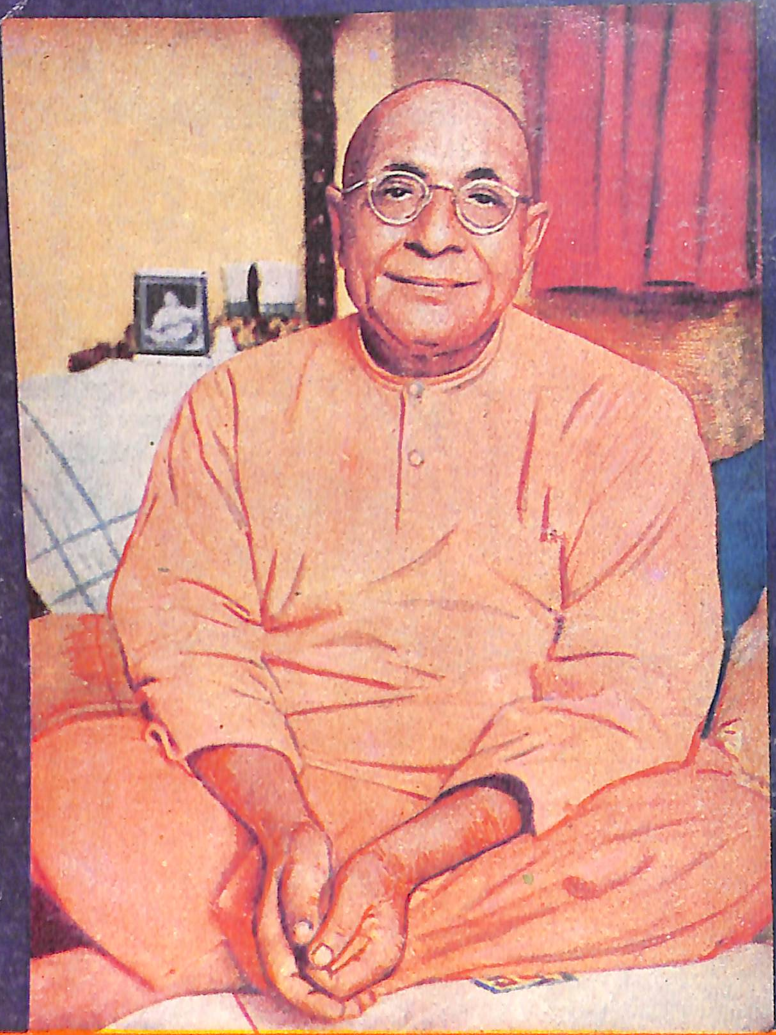

महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

महात्मा आनन्द स्वामी कृत अन्य उत्प्रेरक पुस्तकें

महामंत्र
दो रास्ते
तत्त्वज्ञान
प्रभु-दर्शन
प्रभु-भक्ति
बोध कथाएँ
सुखी गृहस्थ
एक ही रास्ता
त्यागमयी देवियाँ
घोर घने जंगल में
मानव जीवन गाथा
भक्त और भगवान्
प्रभु-मिलन की राह
शंकर और दयानन्द
आनन्द गायत्री कथा
उपनिषदों का सन्देश
मानव और मानवता
प्रभु-भक्ति देश-भक्ति
यह धन किसका है ?
दुनिया में रहना किस तरह ?
वैदिक सत्यनारायण व्रत कथा

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द